Chapter पाँच

नारद द्वारा वसुदेव को दी गई शिक्षाओं का समापन

इस अध्याय में उन व्यक्तियों के गति की विवेचना की गई है, जो भगवान् हरि की पूजा से शत्रुता रखते हैं, जो अपनी इन्द्रियों को वश में रखने में असमर्थ हैं और जो शान्त नहीं हैं। साथ ही, प्रत्येक युग में भगवान् के विभिन्न नामों, रूपों और पूजा-विधियों का उल्लेख हुआ है।

आदि पुरुष विष्णु के मुख, बाहु, जँघा तथा पाँव से चार *वर्ण*—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र—तथा चार विभिन्न *आश्रम* उत्पन्न हैं। यदि चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों के लोग अपनी ही उत्पत्ति के

प्रत्यक्ष मूल भगवान् श्री हरि की पूजा नहीं करते, तो उनका पतन होता है। इन श्रेणियों में से स्त्रियाँ तथा शूद्र, जिनका *हरिकथा* के श्रवण तथा कीर्तन से सामान्यतया कोई सम्पर्क नहीं होता, अपने अज्ञान के कारण महापुरुषों की कृपा के विशेष पात्र हैं। अन्य तीन वर्णों के लोग वैदिक दीक्षा द्वारा द्वितीय जन्म पाकर *श्रौत-जन्म,* हरि के चरणकमल पाने के योग्य बनते हैं, तो भी वेदों की मनमानी व्याख्या से भ्रमित रहते हैं। कर्म के असली अर्थ को न समझते हुए भी अपने को महान् पंडित मान कर सकाम फल के लोभ में वे देवताओं की चाटुकारिता करते हैं और भगवान् के भक्तों का मजाक उड़ाते हैं। वे गृहस्थ जीवन में लगे रहते हैं, संसारी गपशप में रुचि रखते हैं और विष्णु तथा वैष्णवों की भक्ति से विमन रहते हैं। वे भौतिक ऐश्वर्य तथा आनन्द से उन्मत्त रहते हैं, विवेक तथा बुद्धि से विहीन होते हैं और सदैव मानसिक स्तर पर कर्म करते हैं। किन्तु गृहस्थ जीवन के प्रति ऐसी आसक्ति शास्त्र-विरुद्ध होते हुए भी जन-सामान्य में स्वाभाविक है। ऐसे जीवन के सभी पक्षों से अपने को छुड़ाना ही वेदों की मुख्य शिक्षा है। असली सम्पत्ति वह है, जो आत्मा का कर्तव्य करने के लिए अनुकूल हो, वह नहीं जो स्वार्थपूर्ण इन्द्रिय-तृप्ति की पूर्ति के लिए हो। इन्द्रियों में लिप्त रहने की इच्छा के फलस्वरूप ही, पुरुष तथा स्त्री सन्तान उत्पन्न करने के लिए संभोग करते हैं। यज्ञ सम्पन्न करने के लिए आवश्यकता से अधिक पशु-हत्या करके ये मनुष्यरूपी पशु अगले जीवन में हिंसा भोगते हैं। यदि अपने आनन्द के लिए अत्यधिक लोभवश कोई व्यक्ति जीवों के प्रति हिंसा करता है, तो वह श्रीहरि पर भी आक्रमण करता है, जो परमात्मा-रूप में सारे जीवों के शरीरों में उपस्थित हैं। भगवान् वासुदेव के विरोधी एवं अपने आपको धोखा देने वाले ये अज्ञानी अपना ही विनाश करते हैं और नरक जाते हैं।

भगवान् श्रीहरि प्रत्येक युग में विविध रंग, नाम तथा रूप धारण करते हैं और विविध स्वीकृत विधियों द्वारा पूजे जाते हैं। सत्ययुग में भगवान् का वर्ण श्वेत होता है, उनके चार भुजाएँ होती हैं, वे ब्रह्मचारी का वेश धारण करते हैं और हंस जैसे नामों से जाने एवं ध्यानयोग द्वारा पूजे जाते हैं। त्रेतायुग में उनका रंग लाल होता है और वे चतुर्भुजी होते हैं, वे साक्षात् यज्ञ रूप होते हैं और यज्ञ चम्मच, शुरुवा इत्यादि प्रतीकों से युक्त होकर यज्ञ जैसे नामों से पुकारे तथा वैदिक यज्ञों द्वारा पूजे जाते हैं। द्वापर युग में उनका वर्ण गहरा नीला होता है, वे पीताम्बर पहनते हैं, श्रीवत्स आदि चिह्न धारण करते हैं, उनके नाम वासुदेव आदि होते हैं और वेदों तथा तंत्रों के विधि-विधानों द्वारा अर्चारूप में पूजे जाते हैं।

कलियुग में उनका रंग सुनहरा (गौर) होता है, उनके साथ उनके प्राथमिक तथा गौण अंगों तथा हथियारों से युक्त संगी होते हैं, वे कृष्ण-कीर्तन में मग्न रहते हैं, और *सङ्कीर्तन यज्ञ* द्वारा पूजे जाते हैं। चूँकि कलियुग में मनुष्य-जीवन के सारे लक्ष्य एकमात्र भगवान् श्री हरि के नाम-कीर्तन द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं, इसलिए जो लोग वस्तुओं के वास्तविक सार को जानते हैं, वे कलियुग की प्रशंसा करते हैं। कलियुग में दक्षिण भारत (द्रविड़ देश) के उन स्थानों के लोग जहाँ ताम्रपर्णी, कृतमाला, कावेरी तथा महानदी नदियाँ बहती हैं, भगवान् की भक्ति में समर्पित होंगे।

जो लोग मिथ्या अहंकार त्याग देते हैं और पूर्णतया भगवान् हरि की शरण में जाते हैं, वे देवताओं के या अन्य किसी के ऋणी नहीं रहते। जो भक्त भगवान् श्रीहरि के अतिरिक्त अन्य कोई आश्रय नहीं जानते, उनके हृदयों में भगवान् श्रीहरि प्रकट होते हैं और उनके हृदयों की सारी दुर्भावनाएँ भगा देते हैं। विदेहराज निमि ने नव-योगेन्द्रों के मुखों से भागवत धर्म का विस्तृत वर्णन सुनने के बाद तुष्ट मन से उनकी पूजा की। तब वे अन्तर्धान हो गये।

इसके बाद देवर्षि नारद ने वसुदेव को भक्ति की चरम शरण के विषय में उपदेश दिया। उन्होंने वसुदेव को बतलाया कि यद्यपि भगवान् पृथ्वी का भार दूर करने के लिए इस जगत में उनके पुत्र-रूप में प्रकट हुए हैं, तो भी उन्हें चाहिए कि वे कृष्ण को अपने पुत्र-रूप में न मान कर भगवान् मानें। शिशुपाल जैसे राजा शत्रुभाव रखते हुए भी कृष्ण का ध्यान करने से उन्हीं के समान पद को प्राप्त हुए। इसलिए कृष्ण से प्रेम-सम्बन्ध रखने वाले वसुदेव जैसे महात्मा की पूर्णलब्धि के विषय में कुछ कहना व्यर्थ होगा।

श्रीराजोवाच
भगवन्तं हरिं प्रायो न भजन्त्यात्मवित्तमाः ।
तेषामशान्तकामानां क निष्ठाविजितात्मनाम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा निमि ने पूछा; भगवन्तम्—भगवान्; हरिम्—हरि को; प्रायः—अधिकांशतया; न—नहीं; भजन्ति—पूजते हैं; आत्म-वित्तमाः—आत्मा के विज्ञान के विषय में आप सभी पूर्ण हैं; तेषाम्—उनके; अशान्त—अतृप्त; कामानाम्—भौतिक इच्छाओं के; का—क्या; निष्ठा—गन्तव्य; अविजित—वश में न कर सकने वाले; आत्मनाम्—अपनी।

राजा निमि ने आगे पूछा : हे योगेन्द्रो, आप सभी लोग आत्म-विज्ञान में परम दक्ष हैं, अतएव मुझे उन लोगों का गन्तव्य बतलाइये, जो प्रायः भगवान् हरि की पूजा नहीं करते, जो अपनी भौतिक इच्छाओं की प्यास नहीं बुझा पाते तथा जो अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं कर पाते।

तात्पर्य : ग्यारहवें स्कन्ध के इस पाँचवें अध्याय में चमस ऋषि उन लोगों के अशुभ मार्ग का वर्णन करते हैं, जो भगवान् विष्णु की भक्ति के प्रतिकूल रहते हैं और करभाजन ऋषि भगवान् के उन अवतारों का वर्णन करते हैं, जो विभिन्न युगों की प्रामाणिक धर्म-विधि को (*युग-धर्मावतार*) प्रस्तुत करने वाले हैं।

पिछले अध्याय में यह बतलाया जा चुका है कि यद्यपि देवतागण भगवान् के भक्तों के मार्ग में व्यवधान उत्पन्न करते हैं, किन्तु भगवत्कृपा से ये भक्त उन व्यवधानों को पद-दलित करते हुए परम गन्तव्य तक जा पहुँचते हैं। किन्तु अभक्तों के लिए ऐसी सुविधा नहीं है। ज्योंही बद्धजीव भगवद्भक्ति से अनमना होता है, त्योंही वह पदार्थ के क्षणिक प्रकारों के प्रति आकृष्ट होकर अशुभ इच्छाओं का दास बन जाता है। इस तरह भगवद्भक्ति से रहित बद्धजीव वैकुंठ के दिव्य आनन्द को पूर्णतया भूल जाता है, जो पंच दिव्यों रसों में भोगा जाता है। यद्यपि भक्तगण देवताओं द्वारा प्रदत्त इन्द्रिय-तृप्ति के वशीभूत नहीं होते, किन्तु देवता स्वयं ही भौतिक रूप, स्वाद तथा गंध में लीन हो जाते हैं। इसी तरह जो अभक्त हैं, वे भी भौतिक रूप, स्वाद तथा अन्य इन्द्रिय-विषयों में, यथा भोग-विलास में, बँध जाते हैं। इस तरह वे नाना प्रकार से इन्द्रिय-तृप्ति की कल्पनाएँ करके स्वप्न-लोक में विचरण करते रहते हैं और भगवान् के साथ अपने नित्य सम्बन्ध को भूल जाते हैं। विदेहराज निमि अब चमस मुनि से ऐसे मोहग्रस्त व्यक्तियों के द्वारा प्राप्त किये जाने वाले गन्तव्य के विषय में पूछ रहे हैं।

श्रीचमस उवाच

मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह ।
चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् ॥ २॥

शब्दार्थ

श्री-चमसः उवाच—श्री चमस ने कहा; मुख—मुख; बाहु—भुजाएँ; ऊरु—जाँघें; पादेभ्यः—पाँवों से; पुरुषस्य—परमेश्वर के; आश्रमैः—चारों आश्रम; सह—सहित; चत्वारः—चार; जज्ञिरे—उत्पन्न हुए थे; वर्णाः—जातियाँ; गुणैः—गुणों से; विप्र-आदयः—ब्राह्मण इत्यादि; पृथक्—विविध।

श्री चमस ने कहा : ब्राह्मण से शुरु होने वाले चारों वर्ण प्रकृति के गुणों के विभिन्न संयोगों से भगवान् के विराट रूप के मुख, बाहु, जाँघ तथा पाँव से उत्पन्न हुए। इसी तरह चार आध्यात्मिक आश्रम भी उत्पन्न हुए।

तात्पर्य : जो लोग भगवद्भक्ति की ओर स्वत: आकृष्ट नहीं होते, वे चार वर्णों तथा चार आश्रमों वाली वर्णाश्रम प्रणाली का पालन करके धीरे धीरे शुद्ध बन सकते हैं। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार ब्राह्मण सतोगुण से, क्षत्रिय सतो तथा रजोगुण के मिश्रण से, वैश्य रजो तथा तमोगुण के मिश्रण से और शूद्र तमोगुण से उत्पन्न होते हैं। जिस प्रकार चारों वर्ण भगवान् के विराट रूप के मुख, बाहु, जाँघ तथा पाँव से उत्पन्न हैं, उसी तरह ब्रह्मचारी भगवान् के हृदय से, गृहस्थ आश्रम उनके कटि से, वानप्रस्थ आश्रम उनके वक्षस्थल से और संन्यास आश्रम उनके सिर से उत्पन्न हैं।

ऐसा ही श्लोक *ऋक्-संहिता* (८.४.१९) में, *शुक्ल-यजुर्वेद* (३४.११) में तथा *अथर्ववेद* (१९.६६) में पाया जाता है—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहु राजन्य: कृत: ।

ऊरु तदस्य यद् वैश्य: पद्भ्यां शूद्रोऽजायता ॥

"ब्राह्मण उनके मुख से, राजा उनके भुजाओं से, वैश्य उनकी जाँघों से और शूद्र उनके पैरों से उत्पन्न हुए।"

यह विदित है कि भगवद्भक्ति का वर्णन नौ-योगेन्द्रों में से दो—द्रुमिल तथा आविर्होत्र ने पहले ही किया है। चमस मुनि अब *वर्णाश्रम-धर्म* का वर्णन कर रहे हैं, क्योंकि यह प्रणाली उन लोगों को क्रमश: शुद्ध करने और उन्हें भगवत्प्रेम की वैधानिक स्थिति में वापस लाने के लिए है, जो भगवान् से शत्रुभाव रखते हैं। इसी प्रकार विराट रूप काल्पनिक रूप है, जो निपट भौतिकतावादियों को भगवान् की स्थिति को क्रमिक रूप से समझाने के लिए है। चूँकि मूर्ख भौतिकतावादी पदार्थ के परे कुछ भी नहीं समझ पाता, इसलिए उसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को भगवान् के साकार रूप में देखने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति की किसी धारणा के बिना निराकार की निर्विशेष धारणा क्षणिक भौतिक-विविधता का केवल निषेध है। निर्विशेष दृष्टिकोण भौतिक चिन्तन का दूसरा रूप है। भगवान् *ह्लादिनी, सन्धिनी* तथा *संवित्* शक्तियों के मुख्य शीर्षकों के अन्तर्गत दिव्य शक्तियों से पूर्ण हैं।

इस श्लोक से यह समझना होगा कि भगवान् के विराट रूप से उत्पन्न *वर्णाश्रम-धर्म* प्रणाली भगवान् द्वारा प्रदत्त ऐसा कार्यक्रम है, जो बद्धजीवों को नितान्त सामाजिक तथा धार्मिक प्रणाली में लगाकर, उन्हें क्रमशः भगवद्धाम की ओर ले जाने वाला है।

य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; एषाम्—उनके; पुरुषं—परमेश्वर को; साक्षात्—प्रत्यक्षतः; आत्म-प्रभवम्—अपनी उत्पत्ति के स्रोत; ईश्वरम्—परम नियन्ता; न—नहीं; भजन्ति—पूजते हैं; अवजानन्ति—अनादर करते हैं; स्थानात्—अपने पद से; भ्रष्टाः—पतित; पतन्ति—गिरते हैं; अधः—नीचे।

यदि चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों का कोई भी सदस्य उनकी अपनी उत्पत्ति के स्रोत भगवान् की पूजा नहीं करता या जान-बूझकर भगवान् का अनादर करता है, तो वे सभी अपने पद से गिर कर नारकीय दशा को प्राप्त होंगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *न भजन्ति* शब्द उन लोगों के द्योतक हैं, जो अज्ञानतावश भगवान् की पूजा नहीं करते, किन्तु *अवजानन्ति* शब्द उनका द्योतन करता है, जिन्हें भगवान् के सर्वोच्च पद की जानकारी है, किन्तु तो भी वे उनका अनादर करते हैं। यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि चारों वर्ण तथा चारों आश्रम भगवान् के ही शरीर से उत्पन्न हैं। वस्तुतः परमेश्वर हर वस्तु के उद्गम हैं, जैसाकि *भगवद्गीता* (१०.८) में वर्णन हुआ है : *अहं सर्वस्य प्रभवः।* वे लोग जो मूर्खतावश भगवान् के पद के बारे में जिज्ञासा नहीं करते तथा वे जो उनके दिव्य पद के विषय में सुनने के बावजूद उनका अनादर करते हैं, निश्चय ही *वर्णाश्रम-धर्म* से नीचे गिर जाते हैं जैसाकि *स्थानाद् भ्रष्टाः* शब्दों द्वारा बतलाया गया है। *पतन्त्यधः* शब्द सूचित करता है कि जो व्यक्ति वर्णाश्रम प्रणाली से नीचे गिरता है, वह पापकर्मों से नहीं बच सकता, न ही ऐसे व्यक्ति को यज्ञ करने का श्रेय मिलता है। इस तरह वह धीरे धीरे नरक में अधम योनियों की ओर बढ़ता जाता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने इंगित किया है कि भगवान् का अनादर करने और अपने पद से नीचे गिरने का मूल कारण यह है कि व्यक्ति ने गुरु की सही ढंग से पूजा करना नहीं सीखा। जिस व्यक्ति को गुरु को सादर नमस्कार करने और पूजा करने का अभ्यास है, वह अपने आप भगवान् की सही ढंग से पूजा करता है। गुरु की कृपा के बिना तथाकथित धार्मिक व्यक्ति भी क्रमशः नास्तिक बन जाता है, अपने मूर्खतापूर्ण चिन्तन से भगवान् का अपमान करता है और

नारकीय दशा को प्राप्त होता है। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि इस श्लोक में उल्लिखित *पुरुष* गर्भोदकशायी विष्णु हैं, जिनकी महिमा का वर्णन *पुरुष सूक्त* में हुआ है। यदि किसी को अपने उच्च सामाजिक पद का गर्व है और जो ईर्ष्यावश यह सोचता है कि भगवान् भी प्रकृति की उपज है और ऐसा कोई चरम जीव नहीं है, जो सारे जीवों का उद्‍गम हो, तो ऐसा गर्वित मूर्ख वर्णाश्रम प्रणाली से नीचे गिर जायेगा और असंयमी पशुवत् हो जायेगा।

दूरे हरिकथाः केचिद्दूरे चाच्युतकीर्तनाः ।
स्त्रियः शूद्रादयश्चैव तेऽनुकम्प्या भवादृशाम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

दूरे—बहुत दूर; हन्-कथाः—भगवान् हरि की बातों से; केचित्—कई लोग; दूरे—काफी दूर; च—तथा; अच्युत—त्रुटिरहित; कीर्तनाः—कीर्ति; स्त्रियः—स्त्रियाँ; शूद्र-आदयः—शूद्र तथा अन्य पतित जातियाँ; च—तथा; एव—निस्सन्देह; ते—वे; अनुकम्प्याः—अनुग्रह के पात्र हैं; भवादृशाम्—आप जैसे व्यक्तियों के।

ऐसे अनेक लोग हैं, जिन्हें भगवान् हरि विषयक वार्ताओं में भाग लेने का बहुत ही कम अवसर मिल पाता है, जिसके कारण भगवान् की अच्युत कीर्ति का कीर्तन कर पाना उनके लिए कठिन होता है। स्त्रियाँ, शूद्र तथा अन्य पतित जाति के व्यक्ति, सदा ही आप जैसे महापुरुषों की कृपा के पात्र हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बतलाया गया था कि कुछ व्यक्ति भगवान् की महिमा से अपरिचित होते हैं (*न भजन्ति*), जबकि अन्य लोग भगवान् से परिचित होते हुए भी उनका उपहास करते हैं या यह कहते हैं कि भगवान् भी भौतिक है (*अवजानन्ति*)। इस श्लोक में अज्ञानियों को शुद्ध भक्त की कृपा का उचित पात्र बतलाया गया है। दूरे शब्द उन लोगों का बताने वाला है, जिन्हें भगवान् की महिमा सुनने तथा गाने का कोई अवसर नहीं मिल पाता। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार इन्हें *ये साधु-संग भाग्यहीनाः* कहा जा सकता है—अर्थात् वे जो सन्त-पुरुषों तथा शुद्ध भक्तों की संगति से विहीन हैं। सामान्य रूप से कृष्णभावनामृत की अध्यात्म-विद्या में बढ़े-चढ़े लोग स्त्रियों तथा निम्न श्रेणी के व्यक्तियों की संगति से बचते हैं। सामान्य रूप से स्त्रियाँ कामुक होती हैं और शूद्र तथा अन्य निम्न श्रेणी के व्यक्ति धूम्रपान, सुरापान तथा स्त्री आखेट जैसी गन्दी आदतों में लिप्त रहते हैं। इसीलिए चैतन्य महाप्रभु ने साधुओं को स्त्रियों तथा शूद्रों के घनिष्ठ सम्बन्ध से बचने के प्रति आगाह किया है। ऐसे प्रतिबन्ध का व्यावहारिक परिणाम यह होता है कि प्रायः स्त्रियाँ तथा शूद्रजन साधुओं से भगवान्

की महिमा सुन पाने से वंचित रह जाते हैं। इसीलिए श्री चमस मुनि राजा को आदेश देते हैं कि वह ऐसे पतित लोगों पर अपनी विशेष दया प्रदर्शित करे।

हमारे गुरु श्रील प्रभुपाद की भारत में इसलिए कटु आलोचना हुई, क्योंकि उन्होंने कृष्णभावनामृत आन्दोलन में सभी जाति के पुरुषों तथा स्त्रियों को भाग लेने का अवसर प्रदान किया। निस्सन्देह भारत के ब्राह्मण जाति के लोग तथा केवल कर्मकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाले अन्य लोग इसलिए आहत हुए, क्योंकि श्रील प्रभुपाद ने निम्न कुल में जन्म लेने वाले स्त्री-पुरुषों को वैष्णव संस्कृति में मुक्तभाव से भाग लेने, यहाँ तक कि अधिकृत ब्राह्मण के रूप में दीक्षित होने की, अनुमति दे दी थी। तथापि श्रील प्रभुपाद समझते थे कि इस युग में प्रायः हर व्यक्ति पतित है। उन्होंने देखा कि यदि आध्यात्मिक जीवन को तथाकथित उच्च जातियों तक ही सीमित कर दिया जाता है, तो विश्व-भर में असली आध्यात्मिक आन्दोलन के फैलने की सम्भावना नहीं रहेगी। श्रील चैतन्य महाप्रभु की कृपा इतनी महान् है और कृष्ण का पवित्र नाम इतना शक्तिशाली है कि कोई भी पुरुष, स्त्री, बालक या पशु तक कृष्ण-नाम का कीर्तन करके तथा प्रसादम् ग्रहण करके शुद्ध बन सकता है। श्री चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन में किसी भी निष्ठावान व्यक्ति को सर्वोच्च आत्मसिद्धि प्राप्त करने से रोका नहीं जा सकता। एक ओर जहाँ निर्विशेषवादी तथा योगीजन अपनी ही निजी अनुभूति तथा योगशक्ति की उपलब्धि के प्रति स्वार्थ-भाव से चिन्तित रहते हैं, वहीं वैष्णवों में यह प्रथा रही है कि वे सभी जातियों के जीवों के प्रति दयालु होते हैं।

ऐसा समझा जाता है कि नव-योगेन्द्रों तथा राजा निमि के बीच हुई यह वार्ता भगवान् रामचन्द्र के काल में, आज से कई हजार वर्ष पूर्व, हुई थी। किन्तु आज से केवल पाँच हजार वर्ष पूर्व कही गई *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण ने स्वयं यह भी कहा है कि कोई भी व्यक्ति, चाहे जीवन की किसी भी स्थिति में क्यों न हो, भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की पूर्ण शरण ग्रहण करके भगवान् का अत्यन्त प्रिय भक्त बन सकता है। इसलिए कलियुग के पतित लोगों को वैष्णवों की विशेष कृपा का लाभ उठाकर अपना जीवन पूर्ण बनाने और भगवद्धाम वापस जाने के लिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन में सम्मिलित हो जाना चाहिए।

विप्रो राजन्यवैश्यौ वा हरेः प्राप्ताः पदान्तिकम् ।
श्रौतेन जन्मनाथापि मुह्यन्त्याम्नायवादिनः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

विप्रः—ब्राह्मण; राजन्य-वैश्यौ—राजसी वर्ग तथा वैश्य लोग; वा—अथवा; हरेः—हरि के; प्राप्ताः—निकट जाने की अनुमति दिये जाने पर; पद-अन्तिकम्—चरणकमलों के पास; श्रौतेन जन्मना—वैदिक दीक्षा का द्वितीय जन्म प्राप्त कर चुकने पर; अथ—तत्पश्चात्; अपि—भी; मुह्यन्ति—मुग्ध हो जाते हैं; आम्नाय-वादिनः—अनेक दर्शनों को स्वीकार करते हुए।

दूसरी ओर ब्राह्मण, राजसी वर्ग के लोग तथा वैश्यजन वैदिक दीक्षा द्वारा द्वितीय जन्म प्राप्त करके (द्विज) भगवान् हरि के चरणकमलों के निकट जाने की अनुमति दिये जाने पर भी मोहित हो सकते हैं और विविध भौतिकतावादी दर्शन ग्रहण कर सकते हैं।

तात्पर्य : कहा गया है कि अल्पज्ञान अत्यन्त घातक हो सकता है। जो लोग सामाजिक पद से झूठे ही गर्वित होकर भगवान् की पूजा पूरी करने में लापरवाही बरतने लगते हैं, उनकी इस श्लोक में निन्दा की गई है। *मुह्यन्ति आम्नायवादिनः*—वर्णाश्रम धर्म के अन्तर्गत ही उच्च पद की इन्द्रिय-तृप्ति के द्वारा आकृष्ट होकर ऐसे व्यक्ति परम सत्य की अपेक्षा भ्रामक भौतिक दर्शन की ओर अधिक आकृष्ट होते हैं। जैसाकि इस श्लोक में बताया गया है, ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों को वैदिक प्रणाली के अन्तर्गत गायत्री मंत्र की दीक्षा दी जाती है, और उन्हें द्विजन्मा अर्थात् अत्यधिक सुसंस्कृत माना जाता है। वैदिक साहित्य का अध्ययन करने, वैदिक मंत्रों का उच्चारण करने, कर्मकाण्ड सम्पन्न करने तथा गुरु एवं भगवान् की पूजा करने से ऐसे व्यक्ति क्रमशः भगवान् के चरणकमलों के निकट पहुँच पाते हैं। यदि ऐसे उच्च पद को प्राप्त कोई व्यक्ति अपने पद के प्रति गर्वित हो उठता है या वर्णाश्रम धर्म के अनुयायियों के लिए निस्सन्देह उपलब्ध स्वर्गिक भोग के प्रति मुग्ध हो जाता है, तो ऐसा विमुग्ध व्यक्ति जन्म तथा मृत्यु के भौतिक मायावी पद को प्राप्त होता है। यहाँ तक कि उच्च पद प्राप्त देवतागण भी माया-लोभ के शिकार बनते हैं जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रथम श्लोक में वर्णित है—*मुह्यन्ति यत् सूरयः।*

निर्जीव पदार्थ का भोग करने की मायावी इच्छा की संपुष्टि करने के लिए ऐसे मूर्ख लोग भगवान् के पूजन की आवश्यकता का अवमूल्यन करते हुए (*अवजानन्ति*) और वेदों के कर्मकाण्ड भाग को जो नियमित अनुष्ठानों के बदले स्वर्गिक इन्द्रियतृप्ति प्रदान करता है समान महत्ता प्रदान करने का झूठा प्रयास करते हुए अपनी ही अवमानना करते हैं। *भगवद्गीता* (२.४२) में ऐसे झूठे उदारचेताओं का वर्णन हुआ है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चित: ।

वेदवादरता: पार्थ नान्यदस्तीति वादिन: ॥

''अल्पज्ञानी मनुष्य वेदों के उन अलंकारमय शब्दों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं, जो स्वर्ग की प्राप्ति, अच्छे भावी जन्म, शक्ति इत्यादि के लिए विविध सकाम कर्म करने की संस्तुति करते हैं। इन्द्रिय-तृप्ति तथा ऐश्वर्यमय-जीवन की अभिलाषा के कारण, वे ऐसा कहते हैं कि इससे बढ़कर और कुछ नहीं है।''

श्रील प्रभुपाद ने *भगवद्गीता* के इस श्लोक के तात्पर्य में यहाँ पर वर्णित अपराधी वर्ग के लोगों का स्पष्ट चित्रण किया है। ''सामान्यत: सब लोग अत्याधिक बुद्धिमान नहीं होते और वे अज्ञान के कारण वेदों के कर्मकाण्ड भाग में बताये गये सकाम कर्मों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं। वे स्वर्ग में जीवन का आनन्द उठाने के लिए इन्द्रिय-तृप्ति कराने वाले प्रस्तावों से अधिक और कुछ नहीं चाहते, जहाँ मदिरा तथा तरुणियाँ उपलब्ध हैं और भौतिक ऐश्वर्य सर्वसामान्य है। वेदों में स्वर्गलोक पहुँचने के लिए अनेक यज्ञों की संस्तुति है, जिनमें *ज्योतिष्टोम* यज्ञ प्रमुख है। वास्तव में वेदों में कहा गया है कि जो स्वर्ग जाना चाहता है, उसे ये यज्ञ सम्पन्न करने चाहिए और अल्पज्ञानी पुरुष सोचते हैं कि वैदिक ज्ञान का सारा अभिप्राय यही है। ऐसे अनुभवहीन लोगों के लिए कृष्णभावना के दृढ़ कर्म में स्थित हो पाना अत्यन्त कठिन है। जिस प्रकार मूर्ख लोग विषैले वृक्षों के फूलों के प्रति बिना यह जाने कि इस आकर्षण का क्या फल होगा आसक्त रहते हैं, उसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति ऐसे स्वर्गिक ऐश्वर्य तथा तज्जनित इन्द्रिय-भोग के प्रति आकृष्ट रहते हैं।

वेदों के कर्मकाण्ड भाग में कहा गया है, जो लोग चातुर्मास तप करते हैं, वे अमर तथा सदा सुखी रहने के लिए सोमरस पीने के अधिकारी बन जाते हैं। यहाँ तक कि इस पृथ्वी में भी कुछ लोग सोमरस के लिए अत्यन्त इच्छुक रहते हैं, जिससे वे बलवान बनें और इन्द्रिय-तृप्ति का सुख पाने में समर्थ हों। ऐसे लोगों को भव-बन्धन से मुक्ति में कोई श्रद्धा नहीं होती और वे वैदिक यज्ञों की तड़क-भड़क में विशेष आसक्त रहते हैं। वे सामान्यतया विषयी होते हैं और जीवन में स्वर्गिक आनन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते। कहा जाता है कि स्वर्ग में नन्दनकानन नामक अनेक उद्यान हैं, जिनमें दैवी-सुन्दरी स्त्रियों का संग और प्रचुर मात्रा में सोमरस उपलब्ध रहता है। ऐसा शारीरिक सुख

निस्सन्देह विषयी है। अत: ये लोग वे हैं, जो भौतिक जगत के स्वामी बन कर, केवल ऐसे भौतिक क्षणिक सुख के प्रति आसक्त हैं।''

इस श्लोक में महत्त्वपूर्ण बिन्दू यह है कि ऐसे मोहग्रस्त भौतिकतावादी जो वेदों के कर्मकांड भाग के प्रति आकृष्ट हैं (*मुह्यन्त्याम्नायवादिन:*) वे परम भोक्ता भगवान् के परम स्वामित्व की उपेक्षा करना चाहते हैं (*भोक्तारं यज्ञतपसाम्*)। उसी के साथ वे वैदिक नियमों के महान् पालक का पद भी बनाए रखना चाहते हैं। ऐसे दोहरे विचार वाले व्यक्ति भौतिकतावादी दार्शनिकों की यथा जैमिनि की शरण ग्रहण करते हैं, जो ईश्वर के अस्तित्व को ठोस नियम के तौर पर नकारते हैं (*ईश्वरासिद्धे:*) और इसीलिए वे सकाम कर्मों को सर्वोच्च ज्ञेय सत्य के रूप में मानने की संस्तुति करते हैं। ऐसे तथाकथित वैदिक दार्शनिक सुसंस्कृत नास्तिकों जैसे ही हैं, इसलिए *अनीश्वरवादिन:* समझे जाते हैं। यद्यपि वर्णाश्रम प्रणाली के मूर्ख भौतिकतावादी अनुयायी अपना पद आर्यों या द्विजों के रूप में बनाये रखना चाहते हैं और उसी के साथ भगवान् की उपेक्षा करना चाहते हैं, किन्तु *भागवत* (११.५.३) में स्पष्ट कहा गया है *स्थानाद् भ्रष्टा: पतन्त्यध:*—ऐसे व्यक्ति अवश्य ही अपने पदों से गिर कर जीवन की निम्न अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं। जैसाकि इस श्लोक के *मुह्यन्ति* शब्द से पुष्टि होती है, वे अज्ञान के गर्त में जा गिरते हैं। ऐसे दिखावे वाले लोग कभी कभी अपने को *गुरु* रूप में भी प्रस्तुत करते हैं। किन्तु भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि वे ज्ञान में भारी या *गुरु* न होकर *लघु* होते हैं। यह तो मनुष्य का अपने प्रति (*स्वार्थगति*) तथा भगवान् के प्रति परम कर्तव्य है कि *कर्म* तथा *ज्ञान* द्वारा विशेषित भौतिकतावादी कर्म त्याग दे और भगवान् के चरणकमलों की शरण में जाय। केवल अभागे व्यक्ति ही मानेंगे कि गोकुलानन्द भगवान् के चरणकमलों पर भावमय शरणागति की अपेक्षा कोई और भी उच्चतर आनन्द है।

कर्मण्यकोविदा: स्तब्धा मूर्खा: पण्डितमानिन: ।
वदन्ति चाटुकान्मूढा यया माध्व्या गिरोत्सुका: ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

कर्मणि—सकाम कर्म के तथ्यों के बारे में; **अकोविदा:**—अज्ञान; **स्तब्धा:**—मिथ्या अहंकार से गर्वित; **मूर्खा:**—मूर्ख; **पण्डित-मानिन:**—अपने को विद्वान समझते हुए; **वदन्ति**—बोलते हैं; **चाटुकान्**—चाटुकार; **मूढा:**—मुग्ध, मोहग्रस्त; **यया**—जिससे; **माध्व्या**—मधुर; **गिरा**—शब्द; **उत्सुका:**—अत्यन्त उत्सुक।

कर्मकला से अनजान, वेदों के मधुर शब्दों से मोहित तथा जागृत ऐसे उद्धत गर्वित मूर्खजन अपने को विद्वान होने का ढोंग रचते हैं और देवताओं की चाटुकारिता करते हैं।

तात्पर्य : *कर्मण्यकोविदा:* उन लोगों का द्योतक है, जो कर्म करने की उस कला से अनजान होते हैं, जिससे उन्हें भविष्य में बन्धन न भोगना पड़े। यह कला *भगवद्गीता* में वर्णित है— *यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धन: ।* कर्म तो विष्णु की तुष्टि हेतु सम्पन्न किया जाना चाहिए, अन्यथा कर्म बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र के रूप में भावी बन्धन का कारण बनता है। *स्तब्धा:* शब्द सूचित करता है कि अज्ञानी व्यक्ति कर्म की कला को न जानते हुए भी, न तो विद्वान भक्तों से जिज्ञासा करते हैं, न भगवान् के ही जनों के उपदेश को मानते हैं। वेदों में प्रदत्त सकाम कर्मों से गर्वित होकर ऐसे मूर्ख सोचते हैं कि हम तो वेदों के पंडित हैं, हमने सबकुछ पूर्ण रूप से समझ लिया है। इस तरह वे ऐसे वैदिक कथनों की ओर आकृष्ट होते हैं यथा *अपाम् सोमम् अमृता अभूम* (हमने सोमरस पी लिया है, इसलिए अब हम अमर हैं), *अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिन: सुकृतं भवति* (जो चातुर्मास्य यज्ञ करता है उसे अक्षय पुण्य मिलता है), *यत्र नोष्णं न शीतं स्यान्न ग्लानिर्नाप्यरातय:* (चलो ऐसे भौतिक लोक में चलें, जहाँ न तो गर्मी है, न सर्दी, न ह्रास है न शत्रु है)। ऐसे मूर्खों को यह भी ज्ञान नहीं रहता कि ब्रह्माण्ड का स्रष्टा ब्रह्मा तक काल के अन्त में मरेगा, तो उन भौतिक वेद अनुयायियों के बारे में क्या कहा जाय जो उच्च कोटि की इन्द्रिय-तृप्ति की तलाश में विभिन्न दैवी लोकों में मेढ़कों, की तरह उछलते हैं? ऐसे मोहग्रस्त वैदिक पंडित उन अप्सराओं के साथ केलि करने का स्वप्न देखते हैं, जो उनके साथ नाचने, गाने तथा अनियंत्रित विषय-वासना उभाड़ने में निपुण हैं। इस तरह जो लोग वेदों के कर्मकाण्ड भाग द्वारा प्रदत्त स्वर्गिक मायाजाल के बहकावे में आ जाते हैं, वे क्रमश: नास्तिक प्रवृत्ति वाले बन जाते हैं। वस्तुत: यह समस्त ब्रह्माण्ड भगवान् विष्णु को यज्ञस्वरूप अर्पित करने के निमित्त है। इससे बद्धजीव क्रमश: भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति के व्यामोह से उठ कर नित्य धाम को जा सकता है। किन्तु मिथ्या अहंकार से फूले हुए वेदों के अनुयायी व्यक्ति भगवान् विष्णु की सर्वोच्चता तथा सौन्दर्य से निरन्तर अनभिज्ञ रहते हैं।

रजसा घोरसङ्कल्पाः कामुका अहिमन्यवः ।

दाम्भिका मानिनः पापा विहसन्त्यच्युतप्रियान् ॥ ७॥

शब्दार्थ

रजसा—रजोगुण की प्रधानता से; घोर-सङ्कल्पाः—उग्र इच्छाओं वाले; कामुकाः—विषयी; अहि-मन्यवः—सर्प जैसा क्रोध करने वाले; दाम्भिकाः—बनावटी; मानिनः—अत्यधिक गर्वीले; पापाः—पापी; विहसन्ति—हँसी उड़ाते हैं; अच्युत-प्रियान्—अच्युत भगवान् के प्रियजनों का।

रजोगुण के प्रभाव के कारण वेदों के भौतिकतावादी अनुयायी उग्र इच्छाओं के वशीभूत होकर अत्यधिक कामुक बन जाते हैं। उनका क्रोध सर्प जैसा होता है। वे चालबाज, अत्यधिक गर्वीले तथा आचरण में पापपूर्ण होने से भगवान् अच्युत के भक्तों की हँसी उड़ाते हैं।

तात्पर्य : *घोर-सङ्कल्पाः* द्योतक है उग्र इच्छाओं का जैसे कि यह सोचना कि अमुक व्यक्ति मेरा शत्रु है, इसलिए वह मर जाय। रजोगुण के कारण काम की तरंगें बद्धजीव को वशीभूत कर लेती हैं, जिससे वह साँप जैसा क्रुद्ध हो उठता है। ऐसा व्यक्ति गर्व तथा अहंकार से पूरित होने के कारण भगवद्भक्तों द्वारा कृष्णभावनामृत को वितरित करने के विनीत प्रयासों की बड़ाई नहीं कर पाता। वह यही सोचता है, "ये भिखमंगे अपना पेट भरने के लिए भगवान् विष्णु की पूजा करते हैं, किन्तु ये सुखी कभी नहीं हो सकते।" ऐसे भौतिकतावादी धूर्त उन भगवद्भक्तों के दिव्य पद को कभी नहीं समझ पायेंगे, जो स्वयं भगवान् द्वारा रक्षित एवं प्रोत्साहित होते हैं।

वदन्ति तेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियो
गृहेषु मैथुन्यपरेषु चाशिषः ।
यजन्त्यसृष्टान्नविधानदक्षिणं
वृत्त्यै परं घ्नन्ति पशूनतद्विदः ॥ ८॥

शब्दार्थ

वदन्ति—बोलते हैं; ते—वे; अन्योन्यम्—एक-दूसरे से; उपासित-स्त्रियः—स्त्री-पूजा में व्यस्त रहने वाले; गृहेषु—अपने घरों में; मैथुन्य-परेषु—एकमात्र संभोग में लीन रहने वाले; च—तथा; आशिषः—आशीर्वाद, वर; यजन्ति—पूजा करते हैं; असृष्ट—बिना सम्पन्न किये; अन्न-विधान—भोजन-वितरण; दक्षिणम्—पुरोहितों को दिया जाने वाला दान, दक्षिणा; वृत्त्यै—अपनी जीविका के लिए; परम्—एकमात्र; घ्नन्ति—हत्या करते हैं; पशून्—पशुओं को; अतत्-विदः—ऐसे आचरण के परिणामों से अनभिज्ञ।

वैदिक विधानों के भौतिकतावादी अनुयायी भगवान् की पूजा का परित्याग करके अपनी पत्नियों की पूजा करते हैं और इस तरह उनके घर यौन-जीवन के लिए समर्पित हो जाते हैं। ऐसे भौतिकतावादी गृहस्थ इस प्रकार के मनमाने आचरण के लिए एक-दूसरे को प्रोत्साहित करते हैं। वे अनुष्ठानिक यज्ञ को शारीरिक निर्वाह के लिए आवश्यक साधन मान कर अवैध उत्सव

मनाते हैं, जिनमें न तो भोजन बाँटा जाता है, न ही ब्राह्मणों तथा अन्य सम्मान्य व्यक्तियों को दक्षिणा दी जाती है। विपरित इसके वे अपने कर्मों के कुपरिणामों को समझे बिना, क्रूरतापूर्वक बकरों जैसे पशुओं का वध करते हैं।

तात्पर्य : मिथ्या अभिमान विषय-भोग में लिप्त हुए बिना पूरा नहीं होता। इसलिए भौतिकतावादी गृहस्थ सन्त-पुरुषों की पूजा करने की ओर आकृष्ट नहीं होते, प्रत्युत वे निरन्तर विषय-भोग के स्रोत रूप अपनी पत्नियों की पूजा करते हैं। ऐसे गर्हित लोगों की मानसिकता का वर्णन स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१६.१३) में किया है—

इदमद्य मयालब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।

इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥

''आसुरी व्यक्ति सोचता है कि आज मेरे पास इतना धन है और अपनी योजनाओं से मैं अधिक धन कमाऊँगा। इस समय मेरे पास इतना है, किन्तु भविष्य में वह बढ़कर और अधिक हो जायेगा।''

सामान्यतया भौतिकतावादी गृहस्थजन अपने आपको अत्यन्त धार्मिक मानते हैं। वस्तुतः वे अपने बहुत-से पारिवारिकजनों के पेट-पालन के लिए धन कमाकर उन ''अनुत्तरदायी'' साधुओं की अपेक्षा अपने आप को अधिक पुण्यात्मा मानते हैं, जो अपने पारिवारिकजनों के पालन-पोषण हेतु कोई संघर्ष नहीं करते। भौतिक शरीर की पूजा करते हुए वे उन दीन ब्राह्मणों का मानमर्दन करते हैं, जिनकी आर्थिक दशा बहुत अच्छी नहीं होती। वे ऐसे तथाकथित भिखारियों को दान के अयोग्य मानते हैं और इसकी बजाय अपने पारिवारिकजनों की मिथ्या प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए ही यज्ञ करते हैं। इस सन्दर्भ में मध्वाचार्य ने कहा है—*उपेक्ष्य वै हरिं ते तु भूत्वा यज्ञाः पतन्त्यधः।* अपने को सबसे बड़ा धर्मज्ञ मानते हुए भी जो लोग भगवान् तथा उनके भक्तों की उपेक्षा करते हैं, वे अवश्य ही नीचे गिरते हैं। ऐसे मूर्ख व्यक्ति कभी कभी एक-दूसरे को इस तरह आशीर्वाद देते हैं, ''आपको शानदार फूल-मालाएँ, चन्दन-लेप तथा सुन्दर स्त्रियाँ प्राप्त हों।''

जो पुरुष स्त्रियों के स्वभाव से नियंत्रित होते हैं, वे स्त्रियों जैसे ही बन जाते हैं। भौतिकताग्रस्त स्त्रियों की रुचि भगवद्भक्ति में नहीं होती। वे तो निजी सुख के लिए संघर्ष करती हैं। इसलिए वे अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक अपने पतियों से सेवा कराती हैं और यदि उनके पति भगवान् की सेवा करना

अधिक अच्छा समझते हैं, तो वे निरुत्साहित होने लगती हैं। इस तरह निराधार आशा में खोकर पति-पत्नी दोनों ही क्षणिक सुख के लिए एक-दूसरे को प्रोत्साहित करते हैं। वे भगवान् की लीलाओं को कहना या सुनना पसन्द नहीं करते, अपितु अपने परिवारों के विषय में विचार-विमर्श करना अधिक अच्छा समझते हैं। तो भी भगवद्भक्त सतोगुण में प्रौढ़ होने के कारण इन पशुवत् बद्धजीवों के प्रति दया दिखाने के लिए तत्पर रहते हैं। जब भगवद्भक्त यह उपदेश देते हैं कि मनुष्यों को पशु-हत्या नहीं करनी चाहिए, तो भौतिकताग्रस्त गृहस्थ प्रायः चकित हो उठते हैं और यह प्रश्न करते हैं कि क्या सचमुच शाकाहारी भोजन पर निर्भर रहा जा सकता है। इस तरह भौतिक सतोगुण से सर्वथा अनजान होकर, आध्यात्मिक ज्ञान का तो कहना ही क्या, ऐसे निकृष्ट भौतिकतावादी लोगों को भगवद्भक्तों की कृपा के अतिरिक्त अन्य कोई आशा नहीं दिखती।

श्रिया विभूत्याभिजनेन विद्यया
त्यागेन रूपेण बलेन कर्मणा ।
जातस्मयेनान्धधियः सहेश्वरान्
सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान्खलाः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

श्रिया—अपने ऐश्वर्य (सम्पत्ति आदि) द्वारा; विभूत्या—विशिष्ट क्षमताओं द्वारा; अभिजनेन—उच्च कुल से; विद्यया—शिक्षा से; त्यागेन—त्याग से; रूपेण—सौन्दर्य से; बलेन—बल से; कर्मणा—कर्म द्वारा; जात—उत्पन्न; स्मयेन—ऐसे गर्व से; अन्ध—अन्धा हुआ; धियः—बुद्धि वाला; सह-ईश्वरान्—भगवान् सहित; सतः—सन्त स्वभाव वाले भक्तगण; अवमन्यन्ति—अनादर करते हैं; हरि-प्रियान्—भगवान् हरि के प्रियजनों को; खलाः—दुष्ट व्यक्ति।

दुर्मति व्यक्तियों की बुद्धि उस मिथ्या अहंकार से अन्धी हो जाती है, जो धन-सम्पदा, ऐश्वर्य, उच्च-कुलीनता, शिक्षा, त्याग, शारीरिक सौन्दर्य, शारीरिक शक्ति तथा वैदिक अनुष्ठानों की सफल सम्पन्नता पर आधारित होता है। इस मिथ्या अहंकार से मदान्ध होकर ऐसे दुष्ट व्यक्ति भगवान् तथा उनके भक्तों की निन्दा करते हैं।

तात्पर्य : बद्धजीवों द्वारा प्रदर्शित आकर्षक गुण मूलतः उन भगवान् के हैं, जो समस्त आकर्षक गुणों के आगार हैं। चन्द्रमा का प्रकाश वास्तव में सूर्य का प्रतिबिम्बित तेज होता है। इसी तरह जीव कुछ अल्पकाल तक भगवान् के ऐश्वर्य की किसी विशिष्ट मात्रा को प्रतिबिम्बित करता है। यह न जानने से नास्तिक व्यक्ति ऐसे प्रतिबिम्बित ऐश्वर्य से मदान्ध बन जाते हैं और इस तरह वे भगवान् तथा उनके

भक्तों की अधिकाधिक आलोचना करके अपने आपको निन्दित करते हैं। वे यह नहीं समझ पाते कि वे इतने गर्हित क्यों बन गये हैं। ऐसे लोगों को नरक जाने से रोक पाना कठिन है।

सर्वेषु शश्वत्तनुभृत्स्ववस्थितं
यथा खमात्मानमभीष्टमीश्वरम् ।
वेदोपगीतं च न शृण्वतेऽबुधा
मनोरथानां प्रवदन्ति वार्तया ॥ १० ॥

शब्दार्थ

सर्वेषु—समस्त; शश्वत्—नित्य; तनु-भृत्सु—देहधारी जीवों में; अवस्थितम्—स्थित; यथा—जिस तरह; खम्—आकाश; आत्मानम्—परमात्मा को; अभीष्टम्—अत्यन्त पूज्य; ईश्वरम्—परम नियन्ता को; वेद-उपगीतम्—वेदों द्वारा प्रशंसित; च—भी; न शृण्वते—नहीं सुनते हैं; अबुधाः—अज्ञानीजन; मनः-रथानाम्—मनमाने आनन्द के; प्रवदन्ति—परस्पर विवाद करते जाते हैं; वार्तया—कथाएँ।

प्रत्येक देहधारी जीव के हृदय के भीतर शाश्वत स्थित रहते हुए भी भगवान् उनसे पृथक् रहते हैं, जिस तरह कि सर्वव्यापक आकाश किसी भौतिक वस्तु में घुल-मिल नहीं जाता। इस प्रकार भगवान् परम पूज्य हैं तथा हर वस्तु के परम नियन्ता हैं। वेदों में उनकी विस्तार से महिमा गाई जाती है, किन्तु जो लोग बुद्धिविहीन हैं, वे उनके विषय में सुनना नहीं चाहते। वे अपना समय अपने उन मनोरथों की चर्चा करने में बिताते हैं, जो यौन-जीवन तथा मांसाहार जैसी स्थूल इन्द्रिय-तृप्ति से सम्बन्धित होते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण कहते हैं—*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।* समस्त वैदिक ज्ञान का लक्ष्य परम सत्य को जानना है। यद्यपि वेदों का यह उद्देश्य स्वयं वैदिक साहित्य में तथा स्वरूपसिद्ध आचार्यों द्वारा स्पष्ट प्रकट किया जाता है, किन्तु मूर्ख लोग इस सरल सत्य को ग्रहण नहीं कर पाते। वे अपने लैंगिक साथियों और अपने अनुभवों की चर्चा करके अवैध यौन के ज्ञान का अनुशीलन करना अधिक पसन्द करते हैं। वे मांसाहार के लिए अपने दोस्तों को अच्छे से अच्छा भोजनालय बताते हैं और बड़े शौक से उसकी संस्तुति करते हैं और नशीली दवाओं तथा सुराओं के पापपूर्ण अनुभवों को बताकर उनकी प्रशंसा करने में रुचि लेते हैं। ये भौतिकतावादी इन्द्रिय-लोलुप व्यक्ति एक-दूसरे से बड़े शौक से टेलीफोन पर बात करते हैं, सभा-सोसाइटियों में एकत्र होते हैं और आखेट करने, शराब पीने तथा जुआ खेलने के पर्यटनों में रुचि लेते हैं और इस तरह तमोगुणी जीवन बिताते हैं। उनके पास परम सत्य कृष्ण के विषय में चर्चा करने के लिए न तो समय रहता है, न ही रुचि होती है। दुर्भाग्यवश वे

भगवान् की अनदेखी करते हैं, जिससे भगवान् उन्हें होश में लाने के लिए कठिन दण्ड देते हैं। प्रत्येक वस्तु भगवान् की है, अतएव प्रत्येक वस्तु भगवान् के भोग के निमित्त है। जब जीव अपने सारे कर्म भगवान् की प्रसन्नता के लिए करता है, तो उसे असीम सुख का अनुभव होता है। *येन सत्त्वं शुद्ध्येद् यस्माद् ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्।* भौतिक प्रपंच में वस्तुत: कोई सुख नहीं है और भगवान् मदान्ध बद्धजीव को होश में लाने के लिए कृपापूर्वक दण्ड देते हैं।

दुर्भाग्यवश भौतिकतावादी लोग *भगवद्गीता* में दिये गये भगवान् के उपदेश की या भगवान् के प्रतिनिधियों द्वारा *श्रीमद्भागवत* जैसे सम्बन्धित साहित्य में से दिये जाने वाले प्रवचन की परवाह नहीं करते। उल्टे ऐसे विषयी लोग अपने को प्रकाण्ड वक्ता एवं विद्वान मानते हैं। हर भौतिकतावादी व्यक्ति अपने को सर्वाधिक बुद्धिमान मानता है, अतएव वास्तविक सत्य सुनने के लिए उसके पास समय नहीं रहता। फिर भी जैसाकि इस श्लोक में वर्णन हुआ है, भगवान् बद्धजीव के हृदय में धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करते हुए, उसी के भीतर बैठे हुए परमात्मा को पहचानने के लिए उसे प्रोत्साहित करते हैं। बद्धजीव द्वारा इस तरह भगवान् को पहचानना कल्याण तथा सुख की शुरुआत है।

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्या हि जन्तोर्न हि तत्र चोदना ।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

लोके—भौतिक जगत में; व्यवाय—यौन-लिप्तता; आमिष—मांस; मद्य—तथा मदिरा का; सेवा:—सेवन; नित्या:—सदैव प्राप्त; हि—निस्सन्देह; जन्तो:—बद्धजीव में; न—नहीं; हि—निस्सन्देह; तत्र—उस विषय में; चोदना—शास्त्र का आदेश; व्यवस्थिति:—संस्तुत व्यवस्था; तेषु—इनमें; विवाह—पवित्र विवाह द्वारा; यज्ञ—यज्ञ; सुरा-ग्रहै:—तथा शराब ग्रहण करने से; आसु—इनकी; निवृत्ति:—समाप्ति; इष्टा—अभीष्ट।

इस भौतिक जगत में बद्धजीव यौन, मांसाहार तथा नशे के प्रति सदैव उन्मुख रहता है। इसीलिए शास्त्र कभी भी ऐसे कार्यों को बढ़ावा नहीं देते। यद्यपि पवित्र विवाह के द्वारा यौन, यज्ञों द्वारा मांसाहार तथा उत्सवों में सुरा के प्याले ग्रहण करके नशे के लिए शास्त्रों का आदेश है, किन्तु ऐसे उत्सवों मन्तव्य उनकी ओर से विरक्ति उत्पन्न करना है।

तात्पर्य : जो लोग शुद्ध कृष्णभावनामृत को प्राप्त नहीं है, वे अवैध यौन, मांसाहार तथा नशे के रूप में भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति की ओर सदैव उन्मुख रहते हैं। वे खाने, पीने और मौज उड़ाने के

सामूहिक अवसरों की ही सदैव कामना करते हैं। ऐसे भौतिकतावादी व्यक्ति ऐसी क्षणिक तृप्ति को त्यागने के लिए तैयार नहीं होते, क्योंकि वे देहात्म बुद्धि से बुरी तरह जकड़े होते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए ऐसे अनेक वैदिक कर्मकाण्ड हैं, जो संयमित ढंग से भौतिक इन्द्रिय-सुख प्रदान करने वाले हैं। इस तरह बद्धजीव वैदिक जीवन शैली के आज्ञा-पालन के निमित्त नियंत्रित इन्द्रियतृप्ति की कठोरता को स्वीकार करके भगवान् की अप्रत्यक्ष पूजा करने का आदी बन जाता है। शुद्धि के माध्यम से ऐसा जीव क्रमश: उच्चतर रुचि उत्पन्न करता है और भगवान् के आध्यात्मिक स्वभाव के प्रति प्रत्यक्ष आकृष्ट हो जाता है।

कभी कभी वेदों के कर्मकाण्ड भाग के पतित अभ्यासकर्ता बल देते हैं कि वैदिक उत्सवों के सकाम फलों को कभी नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि वे धार्मिक शास्त्रों द्वारा संस्तुत हैं। उदाहरणार्थ एक वैदिक आदेश है कि रजस्वला होने के कम से कम पाँच दिन बाद जब पत्नी ऋतु-स्नान करके स्वच्छ हो ले, तो रात के समय पति अपनी पत्नी से उचित मौसम में संभोग करने जाये। इस तरह उत्तरदायी गृहस्थ धार्मिक यौन-जीवन में प्रवृत्त हुए।

यौन-जीवन के लिए अपनी पत्नी के पास जाने के वैदिक आदेश की व्याख्या वैष्णव आचार्यों ने इस प्रकार की है। भौतिक जगत में प्राय: प्रत्येक व्यक्ति अत्यन्त कामुक होता है और किसी भी आकर्षक स्त्री से मिलने पर उसमें कामेच्छा जागृत होती है। सामान्य भौतिकतावादी व्यक्ति के लिए अपनी वैध विवाहिता पत्नी तक ही सम्बन्धों को सीमित रखना एक उपलब्धि है। किन्तु परिचय से घृणा उत्पन्न होती है, अत: यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि पति धीरे धीरे अपनी पत्नी से ईर्ष्या या क्रोध करने लगता है और अन्य स्त्रियों से अवैध सम्बन्ध करना चाहता है। ऐसी प्रवृत्ति अत्यन्त पापपूर्ण तथा निन्दनीय है, इसीलिए वैदिक शास्त्र का आदेश है कि मनुष्य सन्तान उत्पन्न करने की इच्छा से अपनी वैध पत्नी के पास जाय और इस तरह अन्य स्त्रियों के साथ अवैध यौन-सम्बन्ध में कमी लाये। यदि पत्नी के पास जाने का वैदिक आदेश न होता, तो अनेक लोग अपनी पत्नियों का अनादर करके अवैध सम्बन्ध द्वारा अन्य स्त्रियों को दूषित करने के लिए उन्मुख हो जाते।

किन्तु बद्धजीवों पर लागू होने वाला ऐसा आदेश उन महात्माओं के लिए नहीं होता, जो आध्यात्मिक पद पर स्थिर हैं और भौतिक कामेच्छा से परे हैं। जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है

निवृत्तिरिष्टा—वैदिक शास्त्रों का वास्तविक प्रयोजन मनुष्य को भगवद्धाम वापस ले जाना है। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—*यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्*—मृत्यु के समय हम जो भी सोचते हैं, उसी से हमारा अगला शरीर निश्चित होता है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥

(*भगवद्गीता* ८.५)

यदि कोई व्यक्ति कृष्ण का स्मरण करता है, तो वह तुरन्त कृष्ण के नित्य लोक को चला जाता है। अतः चूँकि सारे वैदिक शास्त्र कृष्ण को जानने के लिए हैं (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*) इसलिए वेदों का चरम उद्देश्य कभी भी वैध या अवैध किसी भी प्रकार की भौतिक इन्द्रियों में तल्लीनता नहीं हो सकता। विवाहित यौन-जीवन सम्बन्धी वैदिक नियम वास्तव में पापपूर्ण अवैध यौन को रोकने के उद्देश्य से हैं। किन्तु किसी को मूर्खता से यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि उसकी पत्नी के नग्न शरीर का कामुक आकर्षण ही आत्म-साक्षात्कार तथा वैदिक उत्थान की पूर्णता है। आध्यात्मिक जीवन की असली पूर्णता तो समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त होना, अर्थात् *निवृत्ति* और मन को कृष्ण पर एकाग्र करना है।

इसी प्रकार मद्यपान तथा मांसाहार के संयमित सेवन के सम्बन्ध में अन्य आदेश हैं। जो लोग मांसाहार के लिए उतावले रहते हैं, उन्हें ऐसे वैदिक उत्सव सम्पन्न करने का आदेश दिया जाता है, जिनसे उन्हें पाँच प्रकार के पाँच-नस्वरों वाले पशुओं को खाने की छूट दी जाती है। ये पशु हैं—गैंडा, कछुआ, खरगोश, स्याही तथा छिपकली। इसी प्रकार विशिष्ट सुरापान की अनुमति वर्ष के विशिष्ट दिनों में बहुत खर्च करके सम्पन्न होने वाले अति-सीमित यज्ञों में दी जाती है। इस तरह अन्य प्रकार का मद्यपान निषिद्ध तथा नृशंस पशु-हत्या निषिद्ध हैं। ऐसे यज्ञ सम्पन्न करने से मनुष्य धीरे धीरे शुद्ध हो जाता है और मांसाहार तथा सुरापान जैसे मूर्खतापूर्ण कार्यों के लिए अरुचि उत्पन्न कर लेता है। इन्द्रिय-तृप्ति पर क्रमशः नियंत्रण लगाने वाले वैदिक नियम *विधि* कहलाते हैं। *नियम* शब्द उन आदेशों का द्योतक है, जो ऐसे कार्यों पर नियंत्रण रखते हैं, जिन्हें मनुष्य सामान्य रूप से नहीं करना चाहते। उदाहरणार्थ, कहा गया है *अहरहःसन्ध्यामुपासीत*—मनुष्य को प्रतिदिन तीनों संधियों पर गायत्री मंत्र का

जप करना चाहिए। यह भी कहा गया है *माघस्नानं प्रकुर्वीत*—मनुष्य को कड़ाके के जाड़े में भी नित्य स्नान करना चाहिए। ऐसे आदेश उन कार्यों की संस्तुति करते हैं, जिनकी सामान्यतया उपेक्षा कर दी जाती है।

यद्यपि ऊपर इसका उल्लेख हुआ है कि अपनी वैध पत्नी की उपेक्षा करने के विरुद्ध आदेश हैं, किन्तु मांसाहार की पूरी तरह उपेक्षा करने के विरुद्ध कोई आदेश नहीं है। दूसरे शब्दों में, पशु-हत्या अत्यन्त निन्दनीय मानी जाती है और यद्यपि अधिक उग्र श्रेणी के लोगों के लिए कुछ छूट है, किन्तु मनुष्य को अपना क्रूर कर्म पूरी तरह से त्याग देना चाहिए, क्योंकि पशु-यज्ञ में थोड़ी-सी भी त्रुटि रह जाने से जीवन में उत्पात खड़ा हो सकता है।

यह समझ लेना होगा कि जो लोग श्री चैतन्य महाप्रभु के निर्देशन में हरे कृष्ण *मन्त्र* का कीर्तन करते हुए, उच्च पद को प्राप्त हो चुके हैं, उनसे आशा की जाती है कि वे भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति का पूर्णरूपेण परित्याग कर दें। यदि कोई कृष्ण-भक्त छल से मांसाहार, नशा या यौन-सुख के लिए शास्त्रों की छूट का लाभ उठाना चाहता है, तो वह नाम-जप के विरुद्ध दसवाँ अपराध करता है। विशेष रूप से यदि किसी ने *त्रिदण्डि संन्यास* आश्रम स्वीकार किया है, तो गृहस्थों के लिए संयमित यौन-जीवन की संस्तुति करने वाले वैदिक आदेशों के प्रति उसका आकृष्ट होना अत्यन्त निन्दनीय तथा घृणित है। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार संन्यास आश्रम में कोई ऐसी छूट नहीं है। वैष्णव संन्यासियों को *मनु-संहिता* में दिये गये निम्नलिखित श्लोक जैसे कथनों से मूर्खतावश चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए—

न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला॥

"ऐसा माना जा सकता है कि मांसाहार, नशा तथा यौन-लिप्तता बद्धजीवों की स्वाभाविक लालसाएँ हैं, अतएव इन कर्मों के लिए ऐसे व्यक्तियों की निन्दा नहीं की जानी चाहिए। किन्तु जब तक ऐसे पापकर्मों का परित्याग नहीं किया जाता, तब तक जीवन की असली सिद्धि पाने की सम्भावना नहीं है।"

क्रिया-विधान में बतलाया गया है कि *वामदेव यज्ञ* या फिर *गर्भाधान संस्कार* के अवसर पर ही धार्मिक संतान उत्पन्न करने के लिए मैथुन की अनुमति दी जाती है। यह भी कहा गया है कि कभी

कभी पितरों तथा देवों के प्रति किए गए यज्ञ के माध्यम से भगवान् हरि की पूजा करने में कुछ प्रकार के मांस प्रयुक्त होते हैं। इसी प्रकार सोमरस के पान के माध्यम से नशे का एक रूप प्राप्त है। किन्तु यदि तथाकथित ब्राह्मण ऐसी भेंटों का आदी हो जाता है, तो वह तुरन्त दूषित हो जाता है। वस्तुत: जो ब्राह्मण स्वयं ऐसे यज्ञ करते थे, वे स्वयं न तो मांस ग्रहण करते थे, न मदिरा। ये वस्तुएँ क्षत्रियों द्वारा सेवन की जाती थीं, जिन्हें यज्ञ के ऐसे उच्छिष्ट पदार्थों को ग्रहण करने पर बुरा नहीं माना जाता था।

किन्तु चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन में यह देखा जा सकता है कि जो कृष्ण के उच्च भक्त बनने के इच्छुक होते हैं, वे ऐसे सकाम यज्ञों का तुरन्त परित्याग कर देते हैं। भक्ति में किसी भी प्रकार के सकाम यज्ञ के लिए स्थान नहीं है। श्री चैतन्य महाप्रभु चाहते थे कि उनके सारे निष्ठावान अनुयायी चौबीसों घण्टे *श्रवणं कीर्तनं विष्णो:* में लगे रहें। जो लोग अपने को चैतन्य महाप्रभु का अनुयायी बताते हैं और निकट भविष्य में भगवद्धाम वापस जाने के गंभीरता से इच्छुक हैं, उन्हें वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति आकृष्ट नहीं होना चाहिए, जो कि भौतिक देहात्म बुद्धि से बुरी तरह जकड़े रहने वालों के लिए हैं। चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी ऐसे कलुषित अनुष्ठानों से पृथक् रहते हैं।

धनं च धर्मैकफलं यतो वै
ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्ति ।
गृहेषु युञ्जन्ति कलेवरस्य
मृत्युं न पश्यन्ति दुरन्तवीर्यम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

धनम्—धन; च—भी; धर्म-एक-फलम्—धार्मिकता ही, जिसका एकमात्र उचित फल है; यत:—जिस (धार्मिक जीवन) से; वै—निस्सन्देह; ज्ञानम्—ज्ञान; स-विज्ञानम्—प्रत्यक्ष अनुभूति सहित; अनुप्रशान्ति—तथा तदुपरान्त कष्ट से मोक्ष; गृहेषु—अपने घरों में; युञ्जन्ति—उपयोग करते हैं; कलेवरस्य—अपने भौतिक शरीर का; मृत्युम्—मृत्यु; न पश्यन्ति—नहीं देख सकते; दुरन्त—दुर्लंघ्य; वीर्यम्—जिसकी शक्ति।

सञ्चित धन का एकमात्र उचित फल धार्मिकता है, जिसके आधार पर मनुष्य जीवन की दार्शनिक जानकारी प्राप्त कर सकता है, जो अन्तत: परब्रह्म की प्रत्यक्ष अनुभूति में और इस तरह समस्त कष्ट से मोक्ष में परिणत हो जाता है। किन्तु भौतिकतावादी व्यक्ति अपने धन का सदुपयोग अपनी पारिवारिक स्थिति की उन्नति में ही करते हैं। वे यह देख नहीं पाते कि दुर्लंघ्य मृत्यु शीघ्र ही उनके दुर्बल भौतिक शरीर को विनष्ट कर देगी।

तात्पर्य : वे वस्तुएँ, जो स्वामी के कब्जे में रहती हैं, *धनम्* कहलाती हैं। जब कोई मूर्ख व्यक्ति अपने शरीर तथा परिवार की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए अपनी सारी गाढ़ी कमाई को खर्च करने का आदी हो जाता है, तो वह यह नहीं देख पाता कि मृत्यु किस तरह दृढ़ गति से उसके शरीर तथा उसके परिवार एवं मित्रों के नश्वर शरीरों के निकट पहुँच रही है। *मृत्युः सर्वहरश्चाहम्*—भगवान् सर्वशक्तिमान मृत्यु के रूप में प्रकट होते हैं, जो समस्त भौतिक वस्तुओं को नष्ट कर देती है। वस्तुतः परिवार में भी अपने धन का उपयोग अपने तथा अपने परिवार के आध्यात्मिक उत्थान के लिए ही करना चाहिए। कृष्णभावनामृत आन्दोलन में ऐसे बहुत-से धार्मिक गृहस्थ हैं, जो सरल शान्त जीवन बिताते हैं और अपने धन का उपयोग अपने घर पर कृष्णभावनाभावित कार्यों को करने तथा उन विरक्त ब्रह्मचारियों तथा संन्यासियों की सहायता करने में करते हैं, जो सार्वजनिक स्थानों में कृष्णभावनामृत का प्रचार करने में लगे हुए हैं। ऐसे गृहस्थ भी जो अपनी शतप्रतिशत शक्ति कृष्णभावनामृत में अर्पित नहीं कर पाते, धीरे धीरे जीवन के आध्यात्मिक सिद्धान्तों को ठीक से समझने लगते हैं और अंततः कृष्ण के चरणकमलों पर दृढ़तापूर्वक अध्यात्मवादी बन जाते हैं। इस तरह वे जन्म, जरा, व्याधि तथा मृत्यु—बद्ध जीवन की इन चिन्ताओं से अपने को मुक्त कर लेते हैं।

कृष्णभावनामृत के बिना जीवन वस्तुतः निर्धनता है, किन्तु निर्धनताग्रस्त भौतिकतावादी, जिसकी बुद्धि सीमित है, यह नहीं समझ पाता कि असली धन तो कृष्णभावनामृत या भगवत्प्रेम को सर्वोच्च शिखर तक पहुँचाना है। ऐसे लोग अपनी सन्तानों को पशुओं की तरह पाल-पोस कर बड़ा करते हैं, जिनका एकमात्र उद्देश्य झूठी प्रतिष्ठा तथा भौतिक इन्द्रिय-सुख रहता है। ऐसे भौतिकतावादी गृहस्थ डरते रहते हैं कि आध्यात्मिक जीवन में अधिक रुचि होने से, उनकी सन्तानों की झूठी प्रतिष्ठा प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा को कहीं क्षति न पहुँचे। वस्तुतः मृत्यु ऐसे आध्यात्मिकता से विहीन भौतिकतावादियों के सारे प्रयासों तथा योजनाओं को ध्वस्त कर देगी। यदि पारिवारिक जीवन तथा धन का उपयोग कृष्णभावनामृत में किया जाता है, तो मनुष्य नित्य-अनित्य, आत्मा-पदार्थ, सुख-दुख के बीच भेद करना सीखेगा और इस तरह जीव मुक्त हो सकेगा तथा सैद्धान्तिक ज्ञान से ऊपर उठ कर कृष्णभावनाभावित जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करेगा। सीमित संवेदनात्मक ज्ञान अर्थात् *प्रत्यक्ष ज्ञान*

सैद्धान्तिक आध्यात्मिक ज्ञान अर्थात् *परोक्ष ज्ञान* के बिना व्यर्थ है, क्योंकि परोक्ष ज्ञान सावधान के साथ अनुशीलन से क्रमशः पक्व होकर *अपरोक्ष ज्ञान* बन जाता है।

इस श्लोक में आया हुआ *अनुप्रशान्ति* शब्द सूचित करता है कि आध्यात्मिक ज्ञान (*विज्ञानम्*) द्वारा मनुष्य को नित्य शान्ति तथा आनन्द की परम उत्कृष्ट अवस्था प्राप्त होती है, जो भौतिकतावादी बद्धजीवों के स्वप्नों से बहुत आगे है।

यद्घ्राणभक्षो विहितः सुराया-
स्तथा पशोरालभनं न हिंसा ।
एवं व्यवायः प्रजया न रत्या
इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यत्—चूँकि; घ्राण—सूँघ कर; भक्षः—ग्रहण करना; विहितः—वैध है; सुरायाः—मदिरा का; तथा—उसी तरह; पशोः—बलि पशु का; आलभनम्—विहित वध; न—नहीं; हिंसा—अंधाधुंध हिंसा; एवम्—इसी प्रकार से; व्यवायः—यौन; प्रजया—सन्तान उत्पन्न करने के लिए; न—नहीं; रत्यै—इन्द्रिय-भोग के लिए; इमम्—यह (जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है); विशुद्धम्—अत्यन्त शुद्ध; न विदुः—वे नहीं समझ पाते; स्व-धर्मम्—अपने उचित कर्तव्य को।

वैदिक आदेशों के अनुसार, जब यज्ञोत्सवों में सुरा प्रदान की जाती है, तो उसका पीकर नहीं अपितु सूँघ कर उपभोग किया जाता है। इसी प्रकार यज्ञों में पशु-बलि की अनुमति है, किन्तु व्यापक पशु-हत्या के लिए कोई प्रावधान नहीं है। धार्मिक यौन-जीवन की भी छूट है, किन्तु विवाहोपरान्त सन्तान उत्पन्न करने के लिए, शरीर के विलासात्मक दोहन के लिए नहीं। किन्तु दुर्भाग्यवश मन्द बुद्धि भौतिकतावादी जन यह नहीं समझ पाते कि जीवन में उनके सारे कर्तव्य नितान्त आध्यात्मिक स्तर पर सम्पन्न होने चाहिए।

तात्पर्य : पशु-यज्ञ के सम्बन्ध में मध्वाचार्य ने निम्नलिखित कथन दिया है—

यज्ञेष्वालभनं प्रोक्तं देवतोद्देशतः पशोः।

हिंसानाम तदन्यत्र तस्मात् तां नाचरेद् बुधः॥

यतो यज्ञे मृता ऊर्ध्वं यान्ति देवे च पैतृके।

अतो लाभादालभनं स्वर्गस्य न तु मारणम्॥

इस कथन के अनुसार कभी कभी वेद भगवान् या किसी देवता विशेष की तुष्टि के लिए पशु-यज्ञ करने की संस्तुति करते हैं। किन्तु यदि कोई व्यक्ति वैदिक नियमों का दृढ़ता से पालन न करते हुए

अंधाधुंध पशु–वध करता है, तो ऐसा वध वास्तविक हिंसा है और किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति द्वारा स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। यदि पशु–यज्ञ सही ढंग से सम्पन्न किया जाता है, तो बलि किया गया पशु तुरन्त देवलोक तथा पितृलोक को चला जाता है। इसलिए ऐसा यज्ञ पशुओं का वध नहीं है, अपितु वैदिक मंत्रों की शक्ति–प्रदर्शन के लिए होता है, जिसकी शक्ति से बलि किया हुआ पशु, तुरन्त उच्च लोकों को प्राप्त होता है।

किन्तु चैतन्य महाप्रभु ने इस युग में ऐसे पशु–यज्ञ का निषेध किया है, क्योंकि मंत्रों का उच्चारण करने वाले योग्य ब्राह्मणों का अभाव है और तथाकथित यज्ञशाला सामान्य कसाई–घर का रूप धारण कर लेती है। इसके पूर्व के युग में जब पाखण्डी लोग वैदिक यज्ञों का गलत अर्थ लगाकर, यह सिद्ध करना चाहते थे कि पशु–वध तथा मांसाहार वैध है, तो स्वयं भगवान् बुद्ध ने अवतार लिया और उनकी घृणित उक्ति को अस्वीकार किया। इसका वर्णन जयदेव गोस्वामी ने किया है—

निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं
सदयहृदय दर्शित पशुघातम्।
केशव धृतबुद्धशरीर
जय जगदीश हरे॥

दुर्भाग्यवश बद्धजीव चार प्रकार की अपूर्णताओं से पीड़ित रहते हैं, जिनमें से एक है ठगने की प्रवृत्ति और इस तरह वे धार्मिक शास्त्रों में भगवान् द्वारा दी गई छूटों का दुरुपयोग अपनी क्रमिक शुद्धि के लिए करते हैं। वे वैदिक आदेशों का पालन अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करने के साथ साथ क्रमशः ऊपर उठने के लिए नहीं करते। ऐसे बद्धजीव भौतिकतावादी उत्सवों के वास्तविक प्रयोजनों की अवमानना करके देहात्म बुद्धि के कारण अधिकाधिक पतित होते जाते हैं। इस तरह वे वर्णाश्रम प्रणाली से नीचे गिर जाते हैं और हिंसक अवैदिक समाजों में जन्म लेकर मूर्खता से यह कल्पना कर बैठते हैं कि विश्व–धर्म के छोटे–छोटे खण्ड ही आत्मा का एकमात्र धर्म है। परिणामस्वरूप वे सनकी बन जाते हैं और धर्म के साम्प्रदायिक तथा अन्धविश्वासी दृष्टिकोण को अपनाते हैं। ऐसे अभागे लोग अपने ही जीवन के नित्य कर्म से अलग–थलग होकर वस्तुओं को उस रूप में लेते हैं, जो वास्तविकता से कोसों दूर होती है।

ये त्वनेवंविदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः ।
पशून्द्रुह्यन्ति विश्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान् ॥ १४॥

शब्दार्थ

ये—जो; तु—लेकिन; अनेवम्-विदः—इन तथ्यों को न जानते हुए; असन्तः—अपवित्र; स्तब्धाः—बनावटी; सत्-अभिमानिनः—अपने को साधु मानने वाले; पशून्—पशुओं को; द्रुह्यन्ति—क्षति पहुँचाते हैं; विश्रब्धाः—अबोध होने से विश्वास कर लेने वाले; प्रेत्य—इस शरीर को त्यागने पर; खादन्ति—खाते हैं; ते—वे पशु; च—तथा; तान्—उनको।.

वे पापी व्यक्ति, जो असली धर्म से अनजान होते हुए भी अपने को पूर्णरूपेण पवित्र समझते हैं, उन निरीह पशुओं के प्रति बिना पश्चाताप किये हिंसा करते हैं, जो उनके प्रति पूर्णतया आश्वस्त होते हैं। ऐसे पापी व्यक्ति अगले जन्मों में उन्हीं पशुओं द्वारा भक्षण किये जाएँगे, जिनका वे इस जगत में वध किये रहते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में हमें उन व्यक्तियों की बड़ी बड़ी त्रुटियों का दिग्दर्शन होता है, जो भगवान् तथा उनके नियम की शरण में नहीं जाते। जैसाकि *भागवत* में कहा गया है—*हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा*—जो लोग भगवान् की सर्वोच्चता को स्वीकार नहीं करते, वे ऐसी पापमय प्रवृत्तियों से दूषित हो जाते हैं जिनसे अभक्तों पर भीषण कष्ट टूट पड़ते हैं। अमरीका जैसे पाश्चात्य देशों में अनेक लोग गर्व के साथ अपने आपको अत्यन्त पवित्र धर्मी मानते हैं और कभी कभी अपने को देवदूत या ईश्वर का प्रतिनिधि तक कहते हैं। ऐसे मूर्खलोग धार्मिकता की डींग मारते हुए न तो कसाई-घरों में असंख्य पशुओं की हत्या करते हुए न ही अपनी भ्रामिक इन्द्रिय-तृप्ति के लिए उनका शिकार करते हुए डरते हैं। मिसिसिपी राज्य में कभी कभी सुअर-वध का उत्सव मनाया जाता है, जिसमें परिवार के परिवार अपनी आँखों के सामने सुअर की बर्बरतापूर्ण हत्या का आनन्द लूटते हैं। इसी प्रकार टेक्सास के निवासी और संयुक्त राज्य के पूर्व अध्यक्ष गो-हत्या के बिना किसी भी सामाजिक उत्सव को पूरा नहीं मानते थे। ऐसे लोग भूल से अपने को ईश्वर के नियमों का पालन करने वाले मानते हैं और अपनी गर्वित मूर्खता के कारण वास्तविकता से कोसों दूर चले जाते हैं। जब कोई मनुष्य वध करने के लिए किसी पशु का पालन करता है, तो वह पशु को अच्छा भोजन देता है, जिससे वह मोटा-ताजा हो सके। इस तरह पशु धीरे धीरे अपने भावी हन्ता को अपना रक्षक और स्वामी मान बैठता है। किन्तु जब यही स्वामी तेज चाकू या बन्दूक लेकर निरीह पशु के पास पहुँचता है, तो पशु सोचता है, "मेरा स्वामी मुझसे खिलवाड़ करने जा रहा है।" वह केवल अन्तिम क्षण में यह समझ पाता है कि मेरा तथाकथित

स्वामी साक्षात् काल है। वैदिक साहित्य में स्पष्ट कथन है कि ऐसे क्रूर स्वामी जो निरीह पशुओं का वध करते हैं, अगले जन्म में अवश्य ही इसी तरह मारे जायेंगे।

मां स भक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।

एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिण: ॥

"मैं जिस पशु का इस समय यहाँ पर मांस खा रहा हूँ, वह अगले जन्म में मुझे खायेगा। इसीलिए विद्वान इसे *मांस* कहते हैं।" पशु-हत्यारों के ऐसे खीझने वाले भाग्य का वर्णन नारद मुनि ने श्रीमद्भागवतम् में उस राजा प्राचीनबर्हि से किया है, जो यज्ञों में पशुओं का अन्धाधुन्ध वध करता था।

भो भो: प्रजापते राजन् पशून् पश्य त्वयाध्वरे।

संज्ञापितान् जीवसंघान् निर्घृणेन सहस्रश: ॥

एते त्वां सम्प्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशशं तव।

सम्परेतम् अय:कूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यव: ॥

"हे नागरिकों के शासक राजा! तुमने यज्ञशाला में जिन पशुओं की निर्दयतापूर्वक बलि दी है, उन्हें आकाश में देखो। वे सारे पशु तुम्हारी मृत्यु की प्रतीक्षा में हैं, कि तुमने उन्हें जो क्षति पहुँचाई है, उसका वे बदला ले सकें। तुम्हारे मरने पर वे क्रुद्ध होकर तुम्हारे शरीर में लोहे के सींग छेद देंगे।" (भागवत ४.२५.७-८) ऐसा दण्ड मृत्यु-लोक में यमराज के निरीक्षण में पशु-हत्यारों को दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, जो व्यक्ति किसी पशु को मारता है या जो मांस खाता है, वह उस जीव का ऋणी होता है, जिसने मांसभक्षक की तुष्टि के लिए अपना शरीर अर्पित किया है। मांसभक्षक को अगले जन्म में अपना शरीर भक्षण के लिए देकर यह ऋण चुकाना होता है। वैदिक साहित्य से इस तरह अपना शरीर देकर ऋण चुकाने की पुष्टि होती है।

द्विषन्त: परकायेषु स्वात्मानं हरिमीश्वरम् ।
मृतके सानुबन्धेऽस्मिन्बद्धस्नेहा: पतन्त्यध: ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

द्विषन्त:—द्वेष करते हुए; पर-कायेषु—अन्यों के शरीरों के भीतर (आत्माएँ); स्व-आत्मानम्—अपने आपको; हरिम् ईश्वरम्—भगवान् हरि को; मृतके—लाश में; स-अनुबन्धे—अपने सम्बन्धियों समेत; अस्मिन्—इस; बद्ध-स्नेहा:—स्थिर स्नेह वाले; पतन्ति—गिरते हैं; अध:—नीचे की ओर।

बद्धजीव अपने शवतुल्य भौतिक शरीरों तथा अपने सम्बन्धियों एवं साज-सामान के प्रति स्नेह से पूरी तरह बँध जाते हैं। ऐसी गर्वित एवं मूर्खतापूर्ण स्थिति में बद्धजीव अन्य जीवों के साथ साथ समस्त जीवों के हृदय में वास करने वाले भगवान् हरि से भी द्वेष करने लगते हैं। इस प्रकार ईर्ष्यावश अन्यों का अपमान करने से बद्धजीव क्रमशः नरक में जा गिरते हैं।

तात्पर्य : भौतिकतावादी व्यक्ति पशुओं की बर्बर हत्या करके उनके प्रति अपनी ईर्ष्या जताते हैं। इसी तरह बद्धजीव अन्य मनुष्यों से भी और हर एक के शरीर के भीतर वास करने वाले स्वयं भगवान् से भी ईर्ष्या करने लगते हैं। वे नास्तिकता या छद्म-दर्शन के प्रचार करने से ईश्वर से अपनी ईर्ष्या व्यक्त करते हैं। इस तरह वे इस तथ्य का मजाक उड़ाते हैं कि हर व्यक्ति ईश्वर का नित्य दास है। ईर्ष्यालु व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से अपने कटु भावों को युद्ध, आतंकवाद, क्रूर सरकार तथा धोखाधड़ी उत्पन्न करके व्यक्त करते हैं। ऐसे ईर्ष्यालु व्यक्तियों के पापमय शरीर शवों के तुल्य होते हैं। फिर भी ईर्ष्यालु व्यक्ति शव-रूप अपने भौतिक शरीरों से आसक्त होते हैं और अपनी सन्तानों तथा शरीर से सम्बन्धित अन्य विस्तारों के प्रति सम्मोहित रहते हैं। ऐसे भाव मिथ्या अहंकार पर आधारित होते हैं। श्रील मध्वाचार्य ने *हरिवंश* से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

आप्तत्वाद् आत्मशब्दोक्तं स्वस्मिन्नपि परेषु च।
जीवाद् अन्यं न पश्यन्ति श्रुत्वैवं विद्विषन्ति च।
एतांस्त्वमासुरान् विद्धि लक्षणै पुरुषाधमान्॥

"ब्रह्म आत्मा कहलाता है, क्योंकि वह अपने में तथा अन्यों के भीतर पाया जाता है। कुछ लोग भगवान् का वर्णन सुन कर विचलित हो उठते हैं और खुले तौर पर यह कहते हैं कि स्वयं उनसे परे कोई श्रेष्ठ जीव नहीं है। ऐसे लोगों को असुर कहना चाहिए। अपने व्यावहारिक लक्षणों से ये सबसे नीच श्रेणी के पुरुष माने जाने चाहिए।"

ये कैवल्यमसम्प्राप्ता ये चातीताश्च मूढताम् ।
त्रैवर्गिका ह्यक्षणिका आत्मानं घातयन्ति ते ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; कैवल्यम्—परब्रह्म का ज्ञान; असम्प्राप्ताः—जिन्होंने नहीं प्राप्त किया है; ये—जो; च—भी; अतीताः—पार कर चुके हैं; च—भी; मूढताम्—निपट मूर्खता; त्रै-वर्गिकाः—जीवन के तीनों लक्ष्यों के प्रति समर्पित अर्थात् धर्म, अर्थ तथा काम; हि—

निस्सन्देह; अक्षणिकाः—विचार करने के लिए, जिनके पास क्षण-भर भी समय नहीं है; आत्मानम्—अपने को; घातयन्ति—हत्या करते हैं; ते—वे।

जिन्होंने परम सत्य का ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, फिर भी, जो निपट अज्ञानता के अंधकार से परे हैं, वे सामान्यतया धर्म, अर्थ तथा काम इन तीन पवित्र पुरुषार्थों का अनुसरण करते हैं। अन्य किसी उच्च उद्देश्य के बारे में विचार करने के लिए समय न होने से वे अपनी ही आत्मा के हत्यारे (आत्मघाती) बन जाते हैं।

तात्पर्य : जो अज्ञान के निपट अंधकार में हैं और इस तरह पवित्र भौतिक जीवन से वंचित हैं, वे असंख्य पापकर्म करते हैं और अत्यधिक कष्ट भोगते हैं। ऐसे घोर कष्ट के कारण कभी कभी ऐसे लोग भगवद्भक्तों की शरण में जाते हैं और ऐसी दिव्य संगति के आशीर्वाद से कभी कभी कृष्णभावनामृत की सर्वोच्च पूर्णावस्था तक पहुँच जाते हैं।

जो लोग पूर्णतया पापी नहीं हैं, वे अपने भौतिक कष्टों में कुछ कमी का अनुभव करते हैं और इस तरह इस जगत में कुशलता का झूठा भाव उत्पन्न कर लेते हैं। चूँकि जो भौतिक दृष्टि से पवित्र हैं, उन्हें सांसारिक समृद्धि, शारीरिक सौन्दर्य तथा सुन्दर परिवार प्राप्त होते हैं, अत: वे अपने पद से गर्वित हो उठते हैं और वे न तो भगवद्भक्तों की संगति करना चाहते हैं, न उनके उपदेशों को ग्रहण करते हैं। दुर्भाग्यवश पवित्र या अपवित्र सारे भौतिक कार्यकलाप अनिवार्यत: पापकर्म से संदूषित रहते हैं। जिन्हें अपनी पवित्रता का गर्व होता है और जो कृष्ण के विषय में सुनना नहीं चाहते, वे कभी न कभी अपने कृत्रिम पद से नीचे गिर जाते हैं। प्रत्येक जीव भगवान् कृष्ण का नित्य दास है, अतएव जब तक हम कृष्ण की शरण में नहीं जाते, हमारा पद सदा अपवित्र रहता है। इस श्लोक में *अक्षणिका:* शब्द महत्त्वपूर्ण है। भौतिकतावादी व्यक्ति अपने नित्य आत्मा के लिए एक क्षण भी खर्च करने के लिए तैयार नहीं होते। यह दुर्भाग्य की निशानी है। ऐसे लोग अपनी ही आत्मा की हत्या करते माने जाते हैं, क्योंकि अपनी हठधर्मिता के कारण, वे अपने लिए अपना भविष्य अंधकारपूर्ण बनाते हैं, जिससे वे दीर्घ समय के लिए नहीं बच सकेंगे।

एक बीमार व्यक्ति वैद्य की देखरेख के प्रारम्भिक परिणामों से प्रोत्साहित होता है, किन्तु यदि रोगी को प्रारम्भिक उपचार से हुई प्रगति पर मिथ्या गर्व होने लगे और अपने को स्वस्थ मान कर वैद्य के इलाज को समय से पहले छोड़ दे, तो निश्चित रूप से वह फिर से बीमार पड़ जायेगा। इस श्लोक में *ये*

कैवल्यमसम्प्राप्ता: पद स्पष्ट सूचित करता है कि भौतिक पवित्रता परब्रह्म के पूर्ण ज्ञान से कोसों दूर है। यदि कोई व्यक्ति भगवान् कृष्ण के चरणकमलों को प्राप्त करने के पूर्व ही अपनी आध्यात्मिक प्रगति छोड़ देता है, तो वह निश्चय ही अत्यन्त कटु भौतिक अवस्था में जा गिरता है, भले ही उसे ब्रह्मज्योति की निर्विशेष अनुभूति क्यों न हो चुकी हो। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है—*आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं तत: पतन्त्यध:।*

एत आत्महनोऽशान्ता अज्ञाने ज्ञानमानिन: ।
सीदन्त्यकृतकृत्या वै कालध्वस्तमनोरथा: ॥ १७॥

शब्दार्थ

एते—ये; आत्म-हन:—आत्मा के हत्यारे; अशान्ता:—शान्ति से रहित; अज्ञाने—अज्ञान में; ज्ञान-मानिन:—ज्ञानवान् मानते हुए; सीदन्ति—कष्ट उठाते हैं; अकृत—कर न सकने से; कृत्या:—अपना कर्तव्य; वै—निस्सन्देह; काल—समय द्वारा; ध्वस्त—विनष्ट; मन:-रथा:—उनकी रंगीन इच्छाएँ।

इन आत्महन्ताओं को कभी भी शान्ति नहीं मिल पाती, क्योंकि वे यह मानते हैं कि मानवी बुद्धि अन्तत: भौतिक जीवन का विस्तार करने के लिए है। इस तरह अपने असली आध्यात्मिक कर्तव्य की उपेक्षा करते हुए, वे सदैव कष्ट पाते हैं। वे उच्च आशाओं एवं स्वप्नों से पूरित रहते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश काल के अपरिहार्य प्रवाह के कारण ये सब सदैव ध्वस्त हो जाते हैं।

तात्पर्य : ऐसा ही श्लोक *श्री ईशोपनिषद* (३) में आता है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता:।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना:॥

“आत्मा का हन्ता चाहे वह जो भी हो श्रद्धाविहीन, अंधकार तथा अज्ञान से पूर्ण लोकों में प्रवेश करता है।”

हित्वात्ममायारचिता गृहापत्यसुहृत्स्त्रिय: ।
तमो विशन्त्यनिच्छन्तो वासुदेवपराङ्मुखा: ॥ १८॥

शब्दार्थ

हित्वा—त्याग कर; आत्म-माया—परमात्मा की माया द्वारा; रचिता:—तैयार किये गये; गृह—घर; अपत्य—बच्चे; सुहृत्—मित्र; स्त्रिय:—पत्नियाँ; तम:—अंधकार में; विशन्ति—प्रवेश करते हैं; अनिच्छन्त:—न चाहते हुए; वसुदेव-पराक्-मुखा:—भगवान् वासुदेव से मुख फेरने वाले।

जिन लोगों ने ईश्वर की माया के जाल में आकर भगवान् वासुदेव से मुख मोड़ लिया है, उन्हें अन्त में बाध्य होकर अपने तथाकथित घर, बच्चे, मित्र, पत्नियाँ तथा प्रेमीजनों को छोड़ना पड़ता है, क्योंकि ये सब भगवान् की माया से उत्पन्न हुए थे और ऐसे लोग अपनी इच्छा के विरुद्ध ब्रह्माण्ड के घोर अंधकार में प्रवेश करते हैं।

तात्पर्य : जीव भगवान् की ओर पीठ फेर कर क्षणिक इन्द्रिय-तृप्ति भोगने का प्रयास करता है। इससे केवल चिन्ता का उदय होता है, क्योंकि बद्धजीव अपनी नश्वर पत्नी, बच्चों, मित्रों, घर, राष्ट्र इत्यादि का पालन-पोषण करने के लिए संघर्ष करता है। अन्त में ये सारी वस्तुएँ छिन जाती हैं और कभी कभी मोहग्रस्त व्यक्ति हताशा में निर्विशेष ईश्वर तथा मुक्ति की शरण ग्रहण करने का प्रयास करता है। इस तरह बद्धजीव सदैव अज्ञान में रहता है। या तो वह भ्रामक इन्द्रिय-तृप्ति के पीछे पड़ा रहता है या ब्रह्म के निर्विशेष पक्ष में लीन होकर इन्द्रिय-तृप्ति से अपने को बचाना चाहता है। किन्तु जीव की वास्तविक स्थिति तो उस परम पुरुष की सेवा करना है, जो उसका स्वामी है। जब तक मनुष्य भगवान् के प्रति शत्रु-भाव को त्याग नहीं देता, तब तक शान्ति या सुख का प्रश्न ही नहीं उठता।

कृष्णभक्त—निष्काम, अतएव 'शान्त'।
भुक्ति-मुक्ति-सिद्धि-कामी—सकलि 'अशान्त'॥

(चैतन्य-चरितामृत मध्य १९.१४९)

श्री राजोवाच
कस्मिन्काले स भगवान्किं वर्णः कीदृशो नृभिः ।
नाम्ना वा केन विधिना पूज्यते तदिहोच्यताम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

श्री-राजा उवाच—राजा ने कहा; कस्मिन्—किस; काले—काल में; सः—वह; भगवान्—भगवान्; किम् वर्णः—किस रंग का; कीदृशः—किस रूप का; नृभिः—मनुष्यों द्वारा; नाम्ना—(किन) नामों से; वा—तथा; केन—किस; विधिना—विधि से; पूज्यते—पूजा जाता है; तत्—वह; इह—हमारी उपस्थिति में; उच्यताम्—कृपा करके कहें।

राजा निमि ने पूछा : भगवान् प्रत्येक युग में किन रंगों तथा रूपों में प्रकट होते हैं और वे किन नामों तथा किन-किन प्रकार के विधानों द्वारा मानव समाज में पूजे जाते हैं?

तात्पर्य : पिछले श्लोकों से स्पष्ट रूप से स्थापित हो चुका है कि यदि मनुष्य भगवान् की शरण में जाकर उनकी प्रेमाभक्ति नहीं करता है, तो मनुष्य-जीवन व्यर्थ जाता है। इसलिए राजा अब मुनियों से

भगवान् की पूजा के विषय में विशिष्ट जानकारी का अनुरोध कर रहा है, क्योंकि इस भक्ति-विधि को बद्धजीव के उद्धार का एकमात्र व्यावहारिक उपाय बतलाया गया है।

श्रीकरभाजन उवाच
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः ।
नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

श्री-करभाजनः उवाच—श्री करभाजन के कहा; कृतम्—सत्य; त्रेता—त्रेता; द्वापरम्—द्वापर; च—तथा; कलिः—कलि; इति—इस तरह के नाम वाले; एषु—इन युगों में; केशवः—भगवान् केशव; नाना—विविध; वर्ण—रंग वाले; अभिधा—नाम; आकारः—तथा स्वरूप; नाना—विविध; एव—इसी प्रकार; विधिना—विधियों से; इज्यते—पूजा जाता है।

श्री करभाजन ने उत्तर दिया—कृत, त्रेता, द्वापर तथा कलि इन चारों युगों में से प्रत्येक में भगवान् केशव विविध वर्णों, नामों तथा रूपों में प्रकट होते हैं और विविध विधियों से पूजे जाते हैं।

कृते शुक्लश्चतुर्बाहुर्जटिलो वल्कलाम्बरः ।
कृष्णाजिनोपवीताक्षान्बिभ्रद्दण्डकमण्डलू ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

कृते—सत्ययुग में; शुक्लः—श्वेत; चतुः-बाहुः—चार भुजाओं वाले; जटिलः—जटाओं से युक्त; वल्कल-अम्बरः—वृक्ष की छाल पहने; कृष्ण-अजिन—काला हिरन; उपवीत—ब्राह्मण का जनेऊ; अक्षान्—अक्ष के बीजों की बनी जप-माला; बिभ्रत्—धारण किये; दन्द—डण्डा; कमण्डलू—तथा जल का पात्र, कमण्डलु।

सत्ययुग में भगवान् श्वेत वर्ण और चतुर्भुजी होते हैं, उनके सिर पर जटाएँ रहती है और वे वृक्ष की छाल का वस्त्र पहनते हैं। वे काले हिरन का चर्म, जनेऊ, जप-माला, डण्डा तथा ब्रह्मचारी का कमण्डल धारण किये रहते हैं।

मनुष्यास्तु तदा शान्ता निर्वैराः सुहृदः समाः ।
यजन्ति तपसा देवं शमेन च दमेन च ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मनुष्याः—मनुष्य; तु—तथा; तदा—तब; शान्ताः—शान्त; निर्वैराः—ईर्ष्यारहित; सुहृदः—सबों का मित्र; समाः—समभाव; यजन्ति—पूजा करते हैं; तपसा—ध्यान की तपस्या द्वारा; देवम्—भगवान् को; शमेन—मन को वश में करके; च—भी; दमेन—इन्द्रियों को वश में करके; च—तथा।

सत्ययुग में लोग शान्त, ईर्ष्यारहित, प्रत्येक प्राणी के प्रति मैत्री-भाव से युक्त तथा समस्त स्थितियों में स्थिर रहते हैं। वे तपस्या द्वारा तथा आन्तरिक एवं बाह्य इन्द्रिय-संयम द्वारा भगवान् की पूजा करते हैं।

तात्पर्य : सत्ययुग में भगवान् चतुर्भुज ब्रह्मचारी के रूप में अवतरित होते हैं, जैसाकि पिछले श्लोक में वर्णन आया है और वे स्वयं ध्यान-विधि को प्रारंभ करते हैं।

हंसः सुपर्णो वैकुण्ठो धर्मो योगेश्वरोऽमलः ।
ईश्वरः पुरुषोऽव्यक्तः परमात्मेति गीयते ॥ २३॥

शब्दार्थ

हंसः—दिव्य हंस; सु-पर्णः—सुन्दर पंखों वाला; वैकुण्ठः—वैकुण्ठ धाम के स्वामी; धर्मः—धर्म धारण करने वाले; योग-ईश्वरः—योग-सिद्धि के स्वामी; अमलः—निर्मल; ईश्वरः—परम नियन्ता; पुरुषः—परम भोक्ता नर; अव्यक्तः—अप्रकट; परम-आत्मा—जीव के हृदय में निवास करने वाला परमात्मा; इति—इस प्रकार; गीयते—उनके नामों का कीर्तन होता है।

सत्ययुग में भगवान् की महिमा का गायन हंस, सुपर्ण, वैकुण्ठ, धर्म, योगेश्वर, अमल, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त तथा परमात्मा-नामों से किया जाता है।

तात्पर्य : करभाजन मुनि विदेहराज निमि द्वारा भगवान् के विविध अवतारों के बारे में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर दे रहे हैं। सत्ययुग में भगवान् का वर्ण श्वेत होता है और वे आदर्श चिन्तक ब्रह्मचारी के रूप में वृक्ष की छाल तथा काले हिरन का चर्म पहनते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने सत्ययुग में भगवान् के विविध नामों की व्याख्या इस प्रकार की है। जो लोग स्वरूपसिद्ध हैं, वे भगवान् की इस परम वास्तविकता को परमात्मा-रूप में जानते हैं। वर्णाश्रम धार्मिक प्रणाली में स्थित लोग उनका महिमा-गान *हंस* रुप में करते हैं, जो समस्त वर्णों तथा आश्रमों से परे है। स्थूल पदार्थ में लीन रहने वाले व्यक्ति उन्हें सुपर्ण अर्थात् सुन्दर पंखों वाला मानते हैं, जो कार्य-कारण विचारधारा का मूलाधार है और जैसाकि *छान्दोग्य उपनिषद्* में वर्णन आया है, वह आत्मा के सूक्ष्म आकाश में उड़ता है। भगवान् की माया द्वारा सृजित सूक्ष्म तथा स्थूल पदार्थ वाले इस ब्रह्माण्ड के भीतर विचरण करने के अभ्यस्त लोग उनके वैकुण्ठ नाम का कीर्तन करते हैं। दिव्य ध्यान (धारणा) शक्ति से विहीन लोग, जो कि धर्म-पथ से नीचे गिर रहे होते हैं, धर्म के रूप में उनकी महिमा का गायन करते हैं। जिन लोगों को माया के गुणों के अधीन होना पड़ता है और जिनके मन असंयमित तथा विचलित रहते हैं, वे उनकी महिमा का गायन पूर्णतया संयमित योगेश्वर के रूप में करते हैं। रजो तथा तमोगुणों के मिश्रण से दूषित

लोग उन्हें अमल अर्थात् अदूषित कहते हैं। शक्ति से हीन लोग उन्हें ईश्वर कहते हैं और जो लोग अपने को उनके शरणागत मानते हैं, वे उन्हें उत्तम पुरुष कहकर पुकारते हैं। जो लोग यह जानते हैं कि यह जगत नश्वर है, वे उन्हें अव्यक्त कहते हैं। इस प्रकार भगवान् वासुदेव सत्ययुग में विविध चतुर्भुज-रूपों में प्रकट होते हैं और सारे जीव अपनी अपनी विशेष पूजा-विधि से उनकी पूजा करते हैं। इसीलिए भगवान् के अनेक नाम हैं।

त्रेतायां रक्तवर्णोऽसौ चतुर्बाहुस्त्रिमेखलः ।
हिरण्यकेशस्त्रय्यात्मा स्रुक्स्रुवाद्युपलक्षणः ॥ २४॥

शब्दार्थ

त्रेतायाम्—त्रेतायुग में; रक्त-वर्णः—लाल रंग का; असौ—वह; चतुः-बाहुः—चतुर्भुज; त्रि-मेखलः—तीन पेटियाँ पहने (वैदिक दीक्षा की तीन अवस्थाओं की द्योतक); हिरण्य-केशः—सुनहरे बालों वाले; त्रयि-आत्मा—तीन वेदों के ज्ञान के साकार रूप; स्रक्-स्रुव-आदि—चमस, स्रुवा इत्यादि; उपलक्षणः—प्रतीकों वाले।

त्रेतायुग में भगवान् का वर्ण लाल होता है। उनकी चार भुजाएँ होती हैं, बाल सुनहरे होते हैं और वे तिहरी पेटी पहनते हैं, जो तीनों वेदों में दीक्षित होने की सूचक है। ऋक्, साम तथा यजुर्वेदों में निहित यज्ञ द्वारा पूजा के ज्ञान के साक्षात् रूप उन भगवान् के प्रतीक स्रुक्, स्रुवा इत्यादि यज्ञ के पात्र होते हैं।

तात्पर्य : *स्रुक्* विशेष पात्र होता है, जिससे यज्ञ में घी डाला जाता है। यह लगभग एक हाथ लम्बा होता है और *विकंटक* नामक विशेष लकड़ी से बना होता है। इसका हत्था दण्ड एवं टोंटी जैसा होता है और इसके सिरे पर एक उथला गढ़ा होता है, जो हंस की चोंच जैसा होता है। इसका अगला हिस्सा मुट्ठी के आकार के चम्मच जैसा होता है। *स्रुव* दूसरा उपकरण है, जो यज्ञ में आहुति डालने के लिए प्रयुक्त होता है। यह *खदिर* की लकड़ी से बना होता है और स्रुक् से छोटा होता है तथा इसमें घी डालने के लिए प्रयुक्त होता है। कभी कभी इसी से सीधे अग्नि में घी की आहुति डाली जाती है। ये हैं त्रेतायुग में भगवान् के प्रतीक, जब भगवान् यज्ञ का *युगधर्म* चालू करने के लिए अवतरित होते हैं।

तं तदा मनुजा देवं सर्वदेवमयं हरिम् ।
यजन्ति विद्यया त्रय्या धर्मिष्ठा ब्रह्मवादिनः ॥ २५॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; तदा—तब; मनुजाः—मनुष्य; देवम्—भगवान् को; सर्व-देव-मयम्—समस्त देवताओं से युक्त; हरिम्—श्री हरि को; यजन्ति—पूजा करते हैं; विद्यया—अनुष्ठानों द्वारा; त्रय्या—तीन मुख्य वेदों के; धर्मिष्ठाः—धर्म में स्थिर; ब्रह्म-वादिनः—परब्रह्म की खोज करने वाले।.

त्रेतायुग में मानव समाज के वे लोग, जो धर्मिष्ठ हैं और परम सत्य को प्राप्त करने में सच्ची रुचि रखते हैं, वे समस्त देवताओं से युक्त भगवान् हरि की पूजा करते हैं। इस युग में तीनों वेदों में दिये गये यज्ञ अनुष्ठानों के द्वारा भगवान् की पूजा की जाती है।

तात्पर्य : सत्ययुग में पृथ्वी के निवासियों को समस्त उत्तम गुणों से युक्त बतलाया गया है। त्रेतायुग में मानव समाज को *धर्मिष्ठाः* तथा *ब्रह्मवादिनः* कहा गया है। किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि सत्ययुग के लोगों के सारे सद्गुणों का उल्लेख इस श्लोक में नहीं हुआ है। दूसरे शब्दों में, सत्ययुग के लोग आत्माराम होते थे, जबकि त्रेतायुग में वे वैदिक यज्ञ सम्पन्न करके पूर्ण बनने की ओर उन्मुख होते थे। त्रेतायुग में मानव समाज सत्ययुग की तरह स्वतः कृष्णभावनाभावित नहीं था। फिर भी लोग कृष्णभावनाभावित होने के लिए प्रवृत्त थे, अतएव वे वैदिक आदेशों का दृढ़ता से पालन करते थे।

विष्णुर्यज्ञः पृश्निगर्भः सर्वदेव उरुक्रमः ।
वृषाकपिर्जयन्तश्च उरुगाय इतीर्यते ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

विष्णुः—सर्वव्यापी भगवान्; यज्ञः—यज्ञरूपी परम पुरुष; पृश्नि-गर्भः—पृश्नि तथा प्रजापति सुतपा के पुत्र; सर्व-देवः—समस्त देवताओं के स्वामी; उरु-क्रमः—अद्भुत कर्म करने वाले; वृषाकपिः—भगवान्, जो स्मरण करने मात्र से सारे कष्टों को दूर कर देते हैं तथा सारी इच्छाओं को पूरा करते हैं; जयन्तः—सर्वविजयी; च—तथा; उरु-गायः—अत्यन्त महिमावान्; इति—इन नामों से; ईर्यते-हे इस् चल्लेद्.

त्रेतायुग में विष्णु, यज्ञ, पृश्निगर्भ, सर्वदेव, उरुक्रम, वृषाकपि, जयन्त तथा उरुगाय नामों से भगवान् का गुणगान किया जाता है।

तात्पर्य : *पृश्निगर्भ* द्योतक है पृश्नि देवी तथा प्रजापति सुतपा के पुत्र-रूप में भगवान् कृष्ण के अवतार का। *वृषाकपि* यह सूचित करता है कि यदि जीव भगवान् का केवल स्मरण करें, तो वे उन्हें सारे वर देने को उद्यत रहते हैं और इस तरह उनकी इच्छाओं को पूरा करके उनके कष्टों को दूर करते हैं। चूँकि भगवान् सदैव विजयी होते हैं, अतएव वे जयन्त कहलाते हैं।

द्वापरे भगवाञ्श्यामः पीतवासा निजायुधः ।
श्रीवत्सादिभिरङ्कैश्च लक्षणैरुपलक्षितः ॥ २७॥

शब्दार्थ

द्वापरे—द्वापर युग में; भगवान्—भगवान्; श्यामः—साँवले रंग का; पीत-वासा:—पीत वस्त्र धारण किये हुए; निज-आयुधः—अपने विशिष्ट हथियारों सहित (चक्र, गदा, शंख तथा कमल-पुष्प से युक्त); श्रीवत्स-आदिभिः—श्रीवत्स तथा अन्यों से; अङ्कैः—शरीर के चिह्न; च—तथा; लक्षणैः—आभूषणों द्वारा; उपलक्षितः—विशेषित।

द्वापर युग में भगवान् श्याम-वर्ण से युक्त और पीताम्बर धारण किये प्रकट होते हैं। इस अवतार में भगवान् के दिव्य शरीर में श्रीवत्स तथा अन्य विशेष आभूषण अंकित रहते हैं और वे अपने निजी आयुध प्रकट करते हैं।

तात्पर्य : द्वापर युग में भगवान् के दिव्य शरीर की उपमा गहरे नीले फूल से दी जा सकती है। भगवान् अपने निजी दिव्य हथियारों को यथा सुदर्शन चक्र को प्रदर्शित करते हैं और उनके शरीर के सारे अंग, विशेष रूप से हाथ-पाँव शुभ प्रतीकों से यथा कमल तथा पताका से अलंकृत रहते हैं। वे अपने वक्षस्थल के दाईं ओर कौस्तुभ मणि तथा शुभ श्रीवत्स (बालों के गुच्छे का बाईं से दाईं ओर मुड़े रहना) धारण करते हैं। वस्तुत: कौस्तुभ तथा श्रीवत्स जैसे शुभ प्रतीक एवं हथियार सभी *विष्णु* तत्त्व-अवतारों में उपस्थित रहते हैं। श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि करभाजन द्वारा उल्लिखित भगवान् के ये सारे सार्वभौम लक्षण कृष्ण-अवतार के सूचक हैं। चूँकि कृष्ण समस्त अवतारों के स्रोत हैं, अतएव अन्य सारे अवतारों के समस्त प्रतीक उनके दिव्य शरीर में पाये जाते हैं।

तं तदा पुरुषं मर्त्या महाराजोपलक्षणम् ।
यजन्ति वेदतन्त्राभ्यां परं जिज्ञासवो नृप ॥ २८॥

शब्दार्थ

तम्—उस; तदा—उस युग में; पुरुषम्—परम भोक्ता को; मर्त्या:—मर्त्य लोग; महा-राज—महान् राजा; उपलक्षणम्—भूमिका अदा करते; यजन्ति—पूजा करते हैं; वेद-तन्त्राभ्याम्—मूल वेदों तथा कर्मकाण्डी तंत्रों के अनुसार; परम्—परम को; जिज्ञासवः—ज्ञानार्जन के इच्छुक; नृप—हे राजा।

हे राजन्, द्वापर युग में जो लोग परम भोक्ता भगवान् को जानने के इच्छुक होते हैं, वे वेदों तथा तंत्रों के आदेशानुसार, उन्हें महान् राजा के रूप में आदर देते हुए पूजा करते हैं।

तात्पर्य : जब श्री कृष्ण हस्तिनापुर से विदा हो रहे थे, तो अर्जुन उनके ऊपर छाता ताने हुए थे और उद्धव तथा सात्यकि उन पर अलंकृत पंखा झल रहे थे। (भागवत १.१०.१७-१८) इस तरह महाराज युधिष्ठिर तथा उनके अनुयायियों ने कृष्ण की पूजा सबसे महान् राजा के रूप में तथा भगवान् के रूप में की। इसी तरह राजसूय यज्ञ में विश्व के महापुरुषों ने कृष्ण को राज-राजेश्वर के रूप में

अग्रपूजा के लिए चुना। भगवान् की ऐसी आदरसमेत पूजा द्वापर युग की विशेषता है, जैसाकि इस श्लोक में वर्णन हुआ है (*महाराजोपलक्षणम्*)। प्रत्येक अगले युग में, अर्थात् सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग में मानव समाज की दशा क्रमशः बिगड़ती जाती है। जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख हुआ है द्वापर युग के वासियों का एकमात्र उपयुक्त गुण है कि वे *जिज्ञासवः* अर्थात् परब्रह्म को जानने के लिए अतीव इच्छुक होते हैं। अन्यथा अन्य कोई सद्गुण का उल्लेख नहीं है। सत्ययुग के निवासियों को *शान्ताः, निर्वैराः, सुहृदः* तथा *समाः* कहा जाता है। इसी प्रकार त्रेतायुग के निवासियों को *धर्मिष्ठाः* तथा *ब्रह्मवादिनः* और वैदिक आदेशों का पालन करने वाले बतलाया गया है। इस श्लोक में द्वापर युग के निवसियों को केवल *जिज्ञासवः* कहा गया है। अन्यथा उन्हें *मर्त्याः* अर्थात् मर्त्य प्राणियों के गुणों वाले कहा जाता है। यदि द्वापर युग में भी मानव समाज सत्ययुग तथा त्रेतायुग की अपेक्षा निकृष्ट था, तो कलियुग में मानव समाज की जो दुर्दशा होगी, उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसलिए, जैसाकि अगले श्लोकों में वर्णन हुआ है, जिन लोगों ने इस कलियुग में जन्म लिया है, उन्हें अपनी मूर्खता से अपने आप को छुड़ाने के लिए चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन से दृढ़तापूर्वक जुड़ जाना चाहिए।

नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः ॥ २९ ॥
नारायणाय ऋषये पुरुषाय महात्मने ।
विश्वेश्वराय विश्वाय सर्वभूतात्मने नमः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

नमः—नमस्कार; ते—आप; वासुदेवाय—वासुदेव को; नमः—नमस्कार; सङ्कर्षणाय—संकर्षण को; च—तथा; प्रद्युम्नाय—प्रद्युम्न को; अनिरुद्धाय—अनिरुद्ध को; तुभ्यम्—आप; भगवते—भगवान् को; नमः—नमस्कार; नारायणाय ऋषये—नारायण ऋषि को; पुरुषाय—परम भोक्ता पुरुष तथा ब्रह्माण्ड स्रष्टा को; महा-आत्मने—परमात्मा को; विश्व-ईश्वराय—ब्रह्माण्ड के स्वामी को; विश्वाय—तथा साक्षात् विश्व-रूप को; सर्व-भूत-आत्मने—समस्त जीवों के परमात्मा को; नमः—नमस्कार।

"हे परम स्वामी वासुदेव, आपको तथा आपके संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध-रूपों को नमस्कार है। हे भगवान्, आपको नमस्कार है। हे नारायण ऋषि, हे ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टा, पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ, इस जगत के स्वामी तथा ब्रह्माण्ड के आदि स्वरूप, हे समस्त जीवों के परमात्मा, आपको सादर नमस्कार है।"

तात्पर्य : श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि यद्यपि भगवान् कृष्ण द्वापर युग के अन्त में प्रकट हुए थे, किन्तु महान् ऋषि-मुनि इस युग के प्रारम्भ से ही उनके प्राकट्य की आशा से इस श्लोक का उच्चारण कर रहे थे।

सामान्य जीव भगवान् के नित्य दास होकर भी भौतिक जगत पर अपना प्रभुत्व बनाने के प्रयास में तल्लीन रहते हैं, किन्तु तो भी वे परमेश्वर के नियंत्रण में रहते हैं। जीव की स्वाभाविक स्थिति भगवान् की सेवा में लगे रहना है। यही नहीं, प्रकृति की भी स्वाभाविक स्थिति है कि जीवों के द्वारा वह भगवान् की दिव्य इच्छाओं की पूर्ति में लगी रहे। इस तरह इस श्लोक में की गई स्तुतियाँ *पञ्चरात्र* तथा वैदिक मंत्रों के अनुसार हैं, जिससे लोग परम सत्य की शाश्वत अधीनता का स्मरण करते रहें।

परम पुरुष कृष्ण अपने आपको नित्य *चतुर्व्यूह रूप* में प्रकट करते हैं। इस स्तुति का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को मिथ्या अहंकार त्याग कर इस चतुर्व्यूह को नमस्कार करना चाहिए। यद्यपि परम सत्य अद्वय है, किन्तु परब्रह्म अपना विस्तार असंख्य स्वाँशों में करके अपने असीम ऐश्वर्य और शक्ति का प्रदर्शन करता है। इन विस्तारों में चतुर्व्यूह मुख्य है। आदि पुरुष तो वासुदेव हैं। जब ईश्वर अपनी आदि शक्ति तथा ऐश्वर्य को प्रकट करता है, तो वह संकर्षण कहलाता है। प्रद्युम्न समस्त ब्रह्माण्ड के आत्मा रूप विष्णु अंश का आधार है और अनिरुद्ध ब्रह्माण्ड के प्रत्येक जीव के परमात्मा रूप विष्णु की साकार अभिव्यक्ति का मूलाधार है। यहाँ पर उल्लिखित चारों स्वाँशों में से आदि अंश वासुदेव हैं और शेष तीन को उनकी विशेष अभिव्यक्तियाँ मानी जाती हैं।

जब जीव यह भूल जाता है कि वह तथा यह प्रकृति भगवान् की सेवा के निमित्त बने हैं, तो तमोगुण प्रधान हो उठता है और बद्धजीव स्वयं ही स्वामी बनने का इच्छुक हो उठता है। इस तरह बद्धजीव यह कल्पना करने लगता है कि वह मानव समाज में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्यक्ति है या कि वह महान् दार्शनिक है। वैदिक मंत्र तथा *पञ्चरात्र* में मनुष्यों के लिए भगवद्भक्ति विषयक आदेश हैं, जो मनुष्य को इस कल्मष से मुक्त करते हैं कि वह समाज का प्रतिष्ठित व्यक्ति अथवा महान् दार्शनिक है। ज्ञानी को चाहिए कि वह अपने को परम सत्य का एक तुच्छ दास समझे।

द्वापर युग में भगवान् की अर्चापूजा प्रमुख है। ऐसी पूजा का चरम उद्देश्य *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* ही है। भगवान् की महिमा का श्रवण तथा कीर्तन किये बिना अर्चापूजा कर पाना सम्भव नहीं। अर्चापूजा में

यह आवश्यक है कि पूजा करने वाला व्यक्ति भगवान् के नामों, रूपों, गुणों, साज-सामग्री, पार्षदों तथा लीलाओं का गुणगान करे। जब ऐसा गुणगान पूर्ण होता है, तो पूजा करने वाला व्यक्ति भगवान् का श्रवण करके दिव्य ज्ञान की अनुभूति का पात्र बन जाता है।

इति द्वापर उर्वीश स्तुवन्ति जगदीश्वरम् ।
नानातन्त्रविधानेन कलावपि तथा शृणु ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; द्वापरे—द्वापर युग में; उरु-ईश—हे राजा; स्तुवन्ति—स्तुति करते हैं; जगत्-ईश्वरम्—ब्रह्माण्ड के स्वामी की; नाना—विविध; तन्त्र—शास्त्रों के; विधानेन—नियमों द्वारा; कलौ—कलियुग में; अपि—भी; तथा—उसी तरह; शृणु—सुनो।

हे राजन्, इस तरह से द्वापर युग में लोग ब्रह्माण्ड के स्वामी का यशोगान करते थे। कलियुग में भी लोग शास्त्रों के विविध नियमों का पालन करते हुए भगवान् की पूजा करते हैं। अब कृपा करके आप मुझसे इसके बारे में सुनें।

तात्पर्य : *कलावपि* अर्थात् ''कलियुग में भी'' महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। यह सुविदित है कि कलियुग एक अधार्मिक युग है। अतएव यह आश्चर्यजनक ही है कि ऐसे नितान्त अधार्मिक युग में भगवान् की पूजा होती है। इसीलिए *कलावपि* कहा गया है। कलियुग में भगवान् का अवतार प्रत्यक्ष रूप से अपने को ईश्वर नहीं कहता, अपितु उन्हें वैदिक शास्त्रों के अनुसार पटु भक्तों द्वारा पहचाना जाता है। इसी तरह प्रह्लाद महाराज *श्रीमद्भागवत* (७.९.३८) में कहते हैं—

इत्थं नृतिर्यगृषिदेवझषावतारै-
र्लोकान् विभावयसि हंसि जगत् प्रतीपान्।
धर्मं महापुरुष पासि युगानुवृत्त-
श्छन्नः कलौ यदभवस्त्रियुगोऽथ स त्वम्॥

''हे प्रभु! इस तरह आप मनुष्य, पशु, महान सन्त, सदृश देवता, मछली या कच्छप इत्यादि विविध रूपों में अवतरित होते हैं और इस तरह विभिन्न लोकों में सम्पूर्ण सृष्टि का पालन-पोषण करते हैं तथा असुरों का वध करते हैं। हे प्रभु! आप युग के अनुसार धर्म के सिद्धान्तों की रक्षा करते हैं। किन्तु कलियुग में आप अपने को भगवान् होने की पुष्टि नहीं करते, अतएव आप त्रियुग अर्थात् तीन युगों में प्रकट होने वाले कहलाते हैं।'' इस तरह यह ज्ञात है कि कलियुग में सामान्य लोगों के लिए भगवान्

के अवतार को पहचान पाना कठिन है, क्योंकि इस युग में भगवान् का प्राकट्य कुछ कुछ प्रच्छन्न रहता है।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार *नानातन्त्रविधानेन* शब्द कलियुग में *पञ्चरात्र* या *सात्वत पञ्चरात्र* वैष्णव शास्त्रों की महत्ता को बताने वाले हैं। *भागवत* में कहा गया है *स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा*—कलियुग में सामान्य लोगों द्वारा उच्च कोटि के वैदिक यज्ञ कर पाना या योग-पद्धति की कठिन तपस्या कर पाना असम्भव है। ऐसी आदर्श वैदिक विधियाँ कलियुग की आध्यात्मिक रूप से मन्द जनता की पहुँच से बाहर हैं, इसलिए इस युग में भगवन्नाम के कीर्तन द्वारा भगवान् की स्तुति करने की सरल विधि अनिवार्य है। भगवन्नाम कीर्तन करने तथा भगवान् की अर्चा-पूजा करने की भक्तिमयी विधियों का वर्णन *पञ्चरात्र* नामक वैष्णव शास्त्रों में वर्णित हैं। इस श्लोक में ऐसे तांत्रिक शास्त्रों का उल्लेख हुआ है और यह कहा गया है कि कलियुग में ये भक्तिमयी विधियाँ, जिनकी शिक्षा नारद मुनि जैसे महान् आचार्यों द्वारा दी गई है, भगवान् की पूजा करने की एकमात्र व्यावहारिक विधियाँ हैं। अगले श्लोक में इसकी और अधिक स्पष्ट व्याख्या की गई है।

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम् ।
यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

कृष्ण-वर्णम्—कृष्ण में आये अक्षरों को दुहराना; त्विषा—कान्ति से; अकृष्णम्—काला नहीं (सुनहला); स-अङ्ग—संगियों समेत; उप-अङ्ग—सेवकगण; अस्त्र—हथियार; पार्षदम्—विश्वासपात्र साथी; यज्ञैः—यज्ञ द्वारा; सङ्कीर्तन-प्रायैः—मुख्य रूप से सामूहिक कीर्तन से युक्त; यजन्ति—पूजा करते हैं; हि—निश्चय ही; सु-मेधसः—बुद्धिमान व्यक्ति।

कलियुग में, बुद्धिमान व्यक्ति ईश्वर के उस अवतार की पूजा करने के लिए सामूहिक कीर्तन (संकीर्तन) करते हैं, जो निरन्तर कृष्ण के नाम का गायन करता है। यद्यपि उसका वर्ण श्यामल (कृष्ण) नहीं है किन्तु वह साक्षात् कृष्ण है। वह अपने संगियों, सेवकों, आयुधों तथा विश्वासपात्र साथियों की संगत में रहता है।

तात्पर्य : यही श्लोक *चैतन्य-चरितामृत* (आदि लीला ३.५२) में कृष्णदास कविराज द्वारा उद्धृत किया गया है। श्रील प्रभुपाद ने इस श्लोक की टीका इस प्रकार की है—"यह पाठ *श्रीमद्भागवत* (११.५.३२) में आया है। श्रील जीव गोस्वामी ने *भागवत* पर की गई अपनी टीका *क्रम सन्दर्भ* में इस श्लोक की व्याख्या की है, जिसमें उन्होंने कहा है कि भगवान् कृष्ण सुनहरे रंग में भी प्रकट होते हैं। ये

सुनहरे भगवान् कृष्ण, भगवान् चैतन्य हैं, जिनकी पूजा इस युग में बुद्धिमान लोग करते हैं। इसकी पुष्टि *श्रीमद्भागवत* में गर्ग मुनि द्वारा की गई है, जिन्होंने कहा था कि यद्यपि बालक कृष्ण श्यामल है, किन्तु वह तीन अन्य रंगों में—लाल, श्वेत तथा पीले रंग में भी प्रकट होता है। उन्होंने अपने श्वेत तथा लाल वर्णों का प्रदर्शन क्रमशः सत्ययुग तथा त्रेतायुग में किया। किन्तु उन्होंने पीले-सुनहरे रंग का प्रदर्शन तब तक नहीं किया, जब तक वह भगवान् चैतन्य के रूप में प्रकट नहीं हुए, जो गौर हरि के नाम से विख्यात हैं।

श्रील जीव गोस्वामी बतलाते हैं कि *कृष्णवर्णम्* का अर्थ है, श्रीकृष्ण चैतन्य। कृष्णवर्णम् तथा कृष्णचैतन्य समतुल्य है। कृष्ण-नाम भगवान् कृष्ण तथा भगवान् चैतन्य कृष्ण दोनों में आता है। श्री चैतन्य महाप्रभु भगवान् हैं, किन्तु वे कृष्ण का वर्णन करने में सदैव लगे रहते हैं और इस तरह वे उनके नाम तथा रूप का कीर्तन करके तथा स्मरण करके दिव्य आनन्द पाते हैं। स्वयं भगवान् कृष्ण सर्वोच्च उपदेश देने के लिए चैतन्य के रूप में प्रकट होते हैं। *वर्णयति* का अर्थ है "कहता है" या "वर्णन करता है।" भगवान् चैतन्य सदैव कृष्ण-नाम का कीर्तन करते हैं और उसका गुणानुवाद भी करते हैं और चूँकि वे स्वयं कृष्ण हैं, अतएव जो भी उनसे मिलता है, वह स्वतः कृष्ण-नाम का कीर्तन करता है और बाद में अन्यों से उसका कथन करता है। वह दूसरे व्यक्ति में दिव्य कृष्णभावनामृत प्रविष्ट कर देता है, जिससे कीर्तन करने वाला दिव्य आनन्द में लीन हो जाता है। इसलिए वह सभी तरह से हर एक के समक्ष कृष्ण-रूप में प्रकट होता है चाहे व्यक्ति-रूप में हो या ध्वनि के रूप में। श्री चैतन्य का दर्शन करने से ही, उसे तुरन्त भगवान् कृष्ण का स्मरण हो आता है। इस तरह उन्हें *विष्णु तत्त्व* के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, श्री चैतन्य साक्षात् भगवान् कृष्ण हैं।

सांगोपांगास्त्रपार्षदम् भी यह सूचित करता है कि श्री चैतन्य भगवान् कृष्ण हैं। उनका शरीर सदैव चन्दन के आभूषणों तथा चन्दन-लेप से विभूषित रहता है। अपने अद्वितीय सौन्दर्य से वे अपने युग के सारे लोगों को दमित करते हैं। अन्य अवतारों में कभी कभी भगवान् ने अस्त्रों का उपयोग असुरों को परास्त करने के लिए किया था, किन्तु इस युग में भगवान् चैतन्य महाप्रभु जैसे सर्व आकर्षक रूप से उन असुरों का दमन करते हैं। श्रील जीव गोस्वामी व्याख्या करते हैं कि उनका सौन्दर्य असुरों को दमन करने के लिए उनके अस्त्र हैं। चूँकि वे सर्व आकर्षक हैं, अतएव यह समझना होगा कि सारे देवता

उनके संगियों जैसे रहते थे। उनके कर्म असाधारण थे और उनके संगी अद्‌भुत थे। जब उन्होंने संकीर्तन आन्दोलन का प्रसार किया, तब विशेषकर बंगाल तथा बिहार में अनेक विद्वानों तथा आचार्यों को आकृष्ट किया। श्री चैतन्य के साथ सदा ही उनके श्रेष्ठतम संगी, जैसे कि नित्यानन्द, अद्वैत, गदाधर तथा श्रीवास रहते थे।

''श्रील जीव गोस्वामी ने वैदिक साहित्य का एक श्लोक उद्‌धृत किया है, जिसमें कहा गया है कि यज्ञ-प्रदर्शनों या उत्सवों को मनाने की कोई आवश्यकता नहीं है। वे टीका करते हैं कि ऐसे बाहरी दिखलावटी प्रदर्शनों में न लगकर सारे लोगों को जाति तथा रंग का भेदभाव त्यागकर भगवान् चैतन्य की पूजा करने के लिए हरे कृष्ण महामंत्र का सामूहिक कीर्तन करना चाहिए। *कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्* यह सूचित करता है कि कृष्ण-नाम को वरीयता प्रदान की जानी चाहिए। श्री चैतन्य ने कृष्णभावनामृत की शिक्षा दी और कृष्ण-नाम का कीर्तन किया। इसलिए श्री चैतन्य की पूजा करने के लिए सभी लोगों को मिल कर *महामंत्र* का—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे/हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे का कीर्तन करना चाहिए। गिरजाघरों, मन्दिरों या मसजिदों में पूजा का प्रसार करना सम्भव नहीं रहा, क्योंकि लोगों को इसमें रुचि नहीं है। किन्तु हरे कृष्ण का कीर्तन कहीं भी किया जा सकता है। इस तरह से श्री चैतन्य की पूजा करते हुए सर्वोच्च कर्म किया जा सकता है और भगवान् को तुष्ट करने का सर्वोच्च धार्मिक उद्देश्य पूरा किया जा सकता है।

''श्री चैतन्य महाप्रभु के सुप्रसिद्ध शिष्य श्रील सार्वभौम भट्टाचार्य ने कहा है, ''जब दिव्य भक्ति का सिद्धान्त लुप्त हो गया, तो श्रीकृष्ण चैतन्य भक्ति-विधि को पुनः बताने हेतु प्रकट हुए हैं। वे इतने दयालु हैं कि कृष्ण-प्रेम का वितरण कर रहे हैं। हर व्यक्ति को चाहिए कि उनके चरणकमलों की ओर अधिकाधिक आकृष्ट हो, जिस तरह कि गुनगुनाते भौंरे कमल-पुष्प की ओर आकृष्ट होते हैं।''

श्री चैतन्य महाप्रभु के अवतार का वर्णन *श्रीविष्णुसहस्रनाम* में भी हुआ है, जो *महाभारत* के दान-धर्म पर्व के अध्याय १८९ में आया है। श्रील जीव गोस्वामी ने इसका सन्दर्भ इस प्रकार दिया है—*सुवर्णवर्णो हेमांगो वरांगश्चन्दनांगदी*—अपनी प्रारम्भिक लीलाओं में वे सुनहले रंग वाले गृहस्थ के रूप में प्रकट होते हैं। उनके अंग सुन्दर हैं और उनका चंदन-लेपित शरीर पिघले सोने जैसा लगता है। उन्होंने यह भी उद्‌धृत किया है—*संन्यासकृच्छमः शान्तो निष्ठा शान्ति परायणः*—बाद की लीलाओं में वे

संन्यास धारण करते हैं और समभाव तथा शान्त रहते हैं। वे शान्ति तथा भक्ति के सर्वोच्च धाम हैं, क्योंकि वे निर्विशेषवादी अभक्तों को चुप करा देते हैं।

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ध्येयम्—ध्यान किये जाने के योग्य; सदा—सदैव; परिभव—भौतिक जगत के अपमान; घ्नम्—नष्ट करने वाला; अभीष्ट—आत्मा की असली इच्छा; दोहम्—ठीक से पुरस्कार करने वाले; तीर्थ—सारे पवित्र स्थानों तथा सन्त-महापुरुषों का; आस्पदम्—धाम; शिव-विरिञ्चि—शिव तथा ब्रह्मा जैसे महान् देवताओं द्वारा; नुतम्—झुके हुए; शरण्यम्—शरण ग्रहण करने के लिए सर्वाधिक योग्य; भृत्य—सेवकों के; आर्ति-हम्—कष्ट को दूर करने वाले; प्रणत-पाल—उन सबके रक्षक, जो आपको प्रणाम करते हैं; भव-अब्धि—जन्म-मृत्यु के सागर का; पोतम्—उपयुक्त नाव (पार करने के लिए); वन्दे—मैं वन्दना करता हूँ; महा-पुरुष—हे महाप्रभु; ते—तुम्हारे; चरण-अरविन्दम्—चरणकमलों की।

हे प्रभु, आप महापुरुष हैं और मैं आपके उन चरणकमलों की पूजा करता हूँ, जो शाश्वत ध्यान के एकमात्र लक्ष्य हैं। वे चरण भौतिक जीवन की चिन्ताओं को नष्ट करते हैं और आत्मा की सर्वोच्च इच्छा—शुद्ध भगवत्प्रेम की प्राप्ति—प्रदान करते हैं। हे प्रभु, आपके चरणकमल समस्त तीर्थस्थानों के तथा भक्ति-परम्परा के समस्त सन्त-महापुरुषों के आश्रय हैं और शिव तथा ब्रह्मा जैसे शक्तिशाली देवताओं द्वारा सम्मानित होते हैं। हे प्रभु, आप इतने दयालु हैं कि आप उन सबों की स्वेच्छा से रक्षा करते हैं, जो आदरपूर्वक आपको नमस्कार करते हैं। इस तरह आप अपने सेवकों के सारे कष्टों को दयापूर्वक दूर कर देते हैं। निष्कर्ष रूप में, हे प्रभु, आपके चरणकमल वास्तव में जन्म तथा मृत्यु के सागर को पार करने के लिए उपयुक्त नाव हैं, इसीलिए ब्रह्मा तथा शिव भी आपके चरणकमलों में आश्रय की तलाश करते रहते हैं।''

तात्पर्य : इस श्लोक में कलियुग में भगवान् के अवतार का वर्णन हुआ है और उसकी पूजा की गई है। विगत तीन युगों—सत्य, त्रेता तथा द्वापर—में ईश्वर के अवतारों का वर्णन करने के बाद करभाजन मुनि ने उपयुक्त स्तुतियाँ प्रस्तुत कीं, जो प्रत्येक युगविशेष में भगवान् की महिमा का वर्णन करने के लिए सदुपयोग किया जाता है। *कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्* श्लोक द्वारा कलियुग में भगवान् के अवतार का वर्णन करने के बाद इस तथा अगले श्लोक में चैतन्य महाप्रभु के रूप में कलियुग में भगवान् के प्राकट्य, *कृष्णवर्णं,* की महिमा का वर्णन है। चैतन्य महाप्रभु कलियुग में प्रकट होते हैं और

हर एक को कृष्ण–नाम का कीर्तन करना सिखाते हैं। इस्कॉन आन्दोलन के सदस्य *कृष्णवर्ण* अर्थात् कृष्ण–नाम के कीर्तन में इतना लीन रहते हैं कि कभी कभी सामान्य लोग उन्हें ''कृष्ण'' कहते हैं। इस तरह जो भी व्यक्ति चैतन्य महाप्रभु के आन्दोलन के सम्पर्क में आता है, वह उनके पवित्र नाम के कीर्तन से तुरन्त कृष्ण की पूजा करने लगता है।

ध्येयं सदा शब्द सूचित करते हैं कि कृष्ण के पवित्र नामों का कीर्तन करने के लिए इस युग में कोई कठोर नियम नहीं हैं। कलियुग में ध्यान की प्रामाणिक विधि भगवन्नाम का कीर्तन विशेष रूप से—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे/हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—महामंत्र का कीर्तन करना है। इस विधि को सदा एवं निरंतर सम्पन्न करना चाहिए। इसी प्रकार चैतन्य महाप्रभु ने कहा—*नाम्नाम् अकारि बहुधा निजसर्व-शक्तिस्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः*—कलियुग में भगवान् ने अपनी सारी शक्तियाँ अपने नाम में लगा दी हैं और इन नामों का कीर्तन करने की कोई घिसी–पिटी विधि नहीं है। ऐसे नियमों का उल्लेख *काल–देश–नियम* का द्योतक है। सामान्यतया काल, ऋतु, स्थान, दशा इत्यादि को नियंत्रित करने वाले कठोर नियम होते हैं, जिनके अनुसार कोई विशेष वैदिक उत्सव सम्पन्न किया जा सकता है या कि किसी विशेष मंत्र का उच्चारण किया जा सकता है। इसलिए मनुष्य को सर्वत्र तथा सदैव, चौबीसों घण्टे, कृष्ण–नाम का कीर्तन करना चाहिए। इस प्रकार काल तथा स्थान के रूप में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। चैतन्य महाप्रभु के कथन का यही अर्थ है।

इस श्लोक में *परिभव–घ्नम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। कलियुग में मानव समाज ईर्ष्या से दूषित रहता है। यहाँ तक कि एक ही परिवार के सदस्यों में भी अत्यधिक ईर्ष्या व्याप्त रहती है, जिससे वे इस युग में निरन्तर झगड़ते रहते हैं। इसी प्रकार पड़ोसी एक–दूसरे से तथा एक–दूसरे की सम्पत्ति तथा पद से ईर्ष्या रखते हैं और सम्पूर्ण राष्ट्र ईर्ष्या से जल कर व्यर्थ ही युद्धरत होते हैं, जिसमें भीषण आधुनिक अस्त्रों द्वारा नरसंहार का खतरा बना रहता है। किन्तु पारिवारिक सदस्यों, अनजानों, तथाकथित कृतघ्न मित्रों, विरोधी राष्ट्रों, आर्थिक स्पर्धा, सामाजिक अप्रतिष्ठा, कैंसर इत्यादि द्वारा उत्पन्न इन उत्पीड़नों से चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके बचा जा सकता है। भौतिक शरीर को तो नहीं बचाया जा सकता, किन्तु चैतन्य महाप्रभु की शरण में आने वाले व्यक्ति की कठोर हृदयग्रंथि खुल जाती है, जिसके कारण वह अपने को बाह्य शरीर या सूक्ष्म मन मान रहा होता है। एक बार इस झूठी पहचान के

टूट जाने पर मनुष्य किसी भी प्रतिकूल भौतिक परिस्थिति में आनन्दपूर्वक रह सकता है। जो लोग इस नश्वर शरीर को शाश्वत बनाना चाहते हैं, वे अपना समय तो गँवाते ही हैं, साथ ही वे अपने जीवन को स्थायी बनाने वाली उस वास्तविक विधि की उपेक्षा करते हैं, जो कि साक्षात् कृष्णरूपी चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों की शरण ग्रहण करना है।

इस श्लोक में *तीर्थास्पदम्* शब्द यह बताता है कि चैतन्य महाप्रभु के चरणकमल समस्त तीर्थस्थानों के आश्रय हैं। ज्यों ज्यों कृष्णभावनामृत आन्दोलन विश्व-भर में फैल रहा है, त्यों त्यों हम निर्धन तथा अविकसित देशों में प्राय: पाते हैं कि भारत में वृन्दावन तथा मायापुर जैसे अत्यन्त पवित्र स्थानों को देख पाने के लिए भ्रमण कर पाना अत्यन्त कठिन होता जा रहा है। विशेष रूप से दक्षिण अमरीका के बहुत-से भक्तों के लिए भारत में ऐसे स्थलों का भ्रमण करके अपने को शुद्ध करना काफी कठिन है। किन्तु चैतन्य महाप्रभु इतने दयालु हैं कि केवल उनकी पूजा करने से विश्व-भर के सारे वैष्णव महान् तीर्थों को अर्थात् चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों को देख पाने का लाभ प्राप्त करते हैं। इस तरह कृष्णभावनामृत आन्दोलन के अनुयायियों को उनकी बाहरी परिस्थिति के बावजूद किसी प्रकार की क्षति नहीं होती है।

इस सम्बन्ध में श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है—*कलौ द्रव्यदेशक्रियादिजनितं दुर्वारमपावित्र्यमपि नाशंकनीयमिति भाव:।* इस युग में संसार पापमय जीवन से इतना दूषित हो चुका है कि कलियुग के सारे लक्षणों से मुक्त हो पाना अत्यन्त कठिन है। फिर भी चैतन्य महाप्रभु का प्रचार-कार्य करने वालों को कलियुग के यदा-कदा होने वाले आकस्मिक अनिवार्य लक्षणों से डरना नहीं चाहिए। चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी अवैध यौन, नशा, मांसाहार तथा जुआ—इन चार निषेधात्मक विधानों का कठोरता से पालन करते हैं। वे सदैव हरे कृष्ण कीर्तन करना और भगवान् की सेवा में लगे रहना चाहते हैं। किन्तु ऐसा हो सकता है कि भक्त के जीवन में कलियुग का कोई लक्षण—यथा ईर्ष्या, क्रोध, काम, लोभ क्षण-भर के लिए यदा-कदा प्रकट हो जाय। किन्तु यदि ऐसा भक्त सचमुच ही चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों में शरणागत होता है, तो उनकी कृपा से ऐसा अवांछित लक्षण या *अनर्थ* तुरन्त लुप्त हो जायेगा। इसलिए भगवान् के निष्ठावान भक्त को अपना नियत कर्तव्य पूरा करने में हतोत्साहित नहीं होना चाहिए, बल्कि उसे आश्वस्त होना चाहिए कि चैतन्य महाप्रभु उसकी रक्षा करेंगे।

इस श्लोक में *शिवविरिञ्चिनुतम्* शब्द भी आया है। इस ब्रह्माण्ड में शिव तथा ब्रह्मा निस्सन्देह दो अत्यन्त शक्तिशाली पुरुष हैं। फिर भी वे चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों की अविचल भाव से पूजा करते हैं। क्यों? *शरण्यम्।* ब्रह्मा तथा शिव भी भगवान् के चरणकमलों की शरण के बिना सुरक्षित नहीं हैं।

भृत्यार्तिहं प्रणतपाल शब्द यह इंगित करते हैं कि यदि बिना द्वैत के कोई व्यक्ति भगवान् के चरणों पर शीश झुकाता है (*प्रणत*), तो भगवान् ऐसे निष्ठावान व्यक्ति को समस्त सुरक्षा प्रदान करते हैं। इस श्लोक में इसका उल्लेख नहीं है कि मनुष्य को भगवान् का उच्च कोटि का भक्त होना चाहिए। प्रत्युत यह कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति भगवान् के चरणकमलों पर केवल शीश झुकाता है, तो उसे सारी सुरक्षा प्रदान की जाती है और यह उस पर भी लागू होता है, जो चैतन्य महाप्रभु के मिशन की सेवा करने का प्रयास करता है। यहाँ तक कि नवदीक्षित को भी भगवत्कृपा से समस्त संरक्षण प्राप्त हो जायेगा।

भवाब्धि-पोतम् के विषय में *श्रीमद्भागवत* में ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं का निम्नलिखित कथन पाया जाता है *त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम्*—अज्ञान सागर को पार करने के लिए आपके चरणकमल को नाव मान कर मनुष्य महाजनों के पदचिह्नों पर चलता है और उस सागर को उसी सरलता से पार कर सकता है, जिस तरह गो-खुर के ऊपर से लाँघा जाता है। श्रील रूप गोस्वामी के अनुसार चैतन्य महाप्रभु का अनुयायी *जीवन्मुक्त* होता है। इस प्रकार भक्त अपने भावी गन्तव्य के लिए परेशान नहीं रहता, क्योंकि वह आश्वस्त रहता है कि भगवान् उसे इस भवसागर से तुरन्त पार करा देंगे। *उपदेशामृत* में ऐसे विश्वास को *निश्चयात्* शब्द द्वारा द्योतित किया गया है, जिसका अर्थ भक्तियोग की शक्ति के विषय में दृढ़ विश्वास है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के अनुसार *शिवविरिञ्चिनुतम्* कथन से यह भी सूचित होता है कि चैतन्य महाप्रभु की पूजा शिव के अवतार अद्वैत आचार्य द्वारा और ब्रह्मा के अवतार हरिदास ठाकुर द्वारा की जाती है।

इस श्लोक में चैतन्य महाप्रभु को *महापुरुष* के रूप में सम्बोधित किया गया है, जिसका अर्थ है *पुरुषोत्तम* अर्थात् भगवान्। इसी प्रकार *श्वेताश्वतर उपनिषद्* (३.१२) में महाप्रभु का निर्देश हुआ है—*महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैश प्रवर्तकः*—महाप्रभु ईश्वर हैं, जो सम्पूर्ण जगत के प्रवर्तक हैं। इसी प्रकार

इस श्लोक में श्री गौरकृष्ण को *महापुरुष* कह कर सम्बोधित किया गया है और इस श्लोक का पूर्ण मन्तव्य भगवान् के चरणकमलों पर नमस्कार अर्पित करना है। ऐसे चरणकमल ध्यान के वास्तविक नित्य लक्ष्य हैं, क्योंकि वे भौतिक जीवन के बन्धन को काट देते हैं और भक्तों की इच्छाएँ पूरी करते हैं। यद्यपि बद्धजीव माया के अधीन होकर कठिन श्रम करते हुए जीवन में कई क्षणिक लक्ष्यों का अनुसरण करते हैं, किन्तु इस तरह से वे वास्तविक आनन्द या ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। ऐसा नित्य आनन्द तथा ज्ञान ही वास्तव में सम्पत्ति है। मनुष्य को चाहिए कि चैतन्य महाप्रभु को सामान्य व्यक्ति समझ कर और उनके चरणकमलों की उपेक्षा करके भगवान् की माया द्वारा प्रदत्त व्यर्थ की नश्वर शरण ग्रहण न करे।

वे योगी जो भगवान् के चरणकमलों के अतिरिक्त अपने ध्यान का अन्य कोई लक्ष्य बनाते हैं अपने ही नित्य जीवन के मार्ग में रोड़े खड़े करते हैं। जब ध्याता, ध्यान तथा ध्येय ये सभी भगवान् के नित्य पद को प्राप्त होते हैं, तो समझिये असली शरण प्राप्त हो चुकी। सामान्यतया बद्धजीव *भोगत्याग* में लगे रहते हैं। कभी वे भौतिक प्रतिष्ठा तथा इन्द्रिय-तृप्ति के पीछे उन्मत्त होकर दौड़ते हैं, तो कभी वे हताश होकर इन वस्तुओं का परित्याग कर देना चाहते हैं। किन्तु भगवान् के चरणकमल इन्द्रिय-तृप्ति तथा परित्याग के फेर-बदल के इस चक्र से परे हैं और जीव के लिए वे शान्ति तथा सुख के चरम धाम हैं।

श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इस श्लोक पर निम्नलिखित अतिरिक्त टिप्पणियाँ दी हैं—

ध्येयम्—लक्ष्य जिसका संकेत गायत्री मंत्र के धीमहि शब्द द्वारा हुआ है।

तीर्थास्पदम्—श्री गौक्षेत्र तथा व्रजमण्डल इत्यादि तीर्थस्थलों का मूल आश्रय, अथवा श्रवण-परम्परा के ब्रह्म-सम्प्रदाय के महान् भक्तों, भगवान् के चरणकमल का मूल आश्रय। यह श्रवण-परम्परा श्रीमद् आनन्दतीर्थ (मध्वाचार्य) से प्रारम्भ होती है और रूपानुग महाभागवतों अर्थात् रूप गोस्वामी तथा चैतन्य महाप्रभु के महान् अनुयायियों द्वारा आगे बढ़ती है।

शिवविरिञ्चिनुतम्—वह जिसकी पूजा शिव के अवतार श्रीमद् अद्वैताचार्य प्रभु तथा विरिञ्चि के अवतार श्रीमान् आचार्य हरिदास प्रभु द्वारा की जाती है।

भृत्यार्तिहम्—जिसने अपनी अहैतुकी कृपा से अपने ही दास, ब्राह्मण वासुदेव के कष्ट को दूर किया, जिसे *चैतन्य लीला* में कोढ़ हो गया था।

भवाब्धिपोतम्—संसार सागर को पार करने का साधन; अथवा उन लोगों के आश्रय जो अपने को उस भौतिक संसार से मुक्त करते हैं, जो यह संसार मोक्ष या भौतिक भोग की लालसा के रूप में जीव को पीड़ित करता है। ऐसे व्यक्तियों में से, जिन्होंने भगवान् के चरणकमल रूपी इस नाव का लाभ उठाया, सार्वभौम भट्टाचार्य तथा प्रतापरुद्र महाराज हैं, जिन्हें क्रमश: *मुक्तिकाम* तथा *भुक्तिकाम* से बचाया गया था।

त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम् ।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद्
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

त्यक्त्वा—त्याग कर; सु-दुस्त्यज—त्याग पाना अत्यन्त कठिन; सुर-ईप्सित—देवताओं द्वारा वांछित; राज्य-लक्ष्मीम्—लक्ष्मी तथा उसका ऐश्वर्य; धर्मिष्ठ:—अत्यन्त धार्मिक; आर्य-वचसा—ब्राह्मण के वचनों के अनुसार; यत्—जो; अगात्—गया; अरण्यम्—(संन्यास लेकर) जंगल में; माया-मृगम्—बद्धजीव जो सदैव भ्रामक भोग की तलाश करता है; दयितया—कृपावश; ईप्सितम्—वांछित वस्तु; अन्वधावत्—पीछे पीछे दौड़ते; वन्दे—नमस्कार करता हूँ; महा-पुरुष—हे महाप्रभु; ते—तुम्हारे; चरण-अरविन्दम्—चरणकमलों को।.

हे महापुरुष, मैं आपके चरणकमलों की पूजा करता हूँ। आपने लक्ष्मी देवी तथा उनके सारे ऐश्वर्य का परित्याग कर दिया, जिसे त्याग पाना अतीव कठिन है और जिसकी कामना बड़े बड़े देवता तक करते हैं। इस तरह धर्मपथ के अत्यन्त श्रद्धालु अनुयायी होकर आप ब्राह्मण के शाप को मान कर जंगल के लिए चल पड़े। आपने मात्र अपनी दयालुतावश पतित बद्धजीवों का पीछा किया, जो सदैव माया के मिथ्या भोग के पीछे दौड़ते हैं और उसी के साथ अपनी वांछित वस्तु भगवान् श्यामसुन्दर की खोज में लगे भी रहते हैं।

तात्पर्य : वैष्णव आचार्यों के अनुसार *श्रीमद्भागवत* के इस महत्त्वपूर्ण श्लोक में चैतन्य महाप्रभु, भगवान् कृष्ण तथा श्री रामचन्द्रजी का भी वर्णन हुआ है। यह श्लोक करभाजन द्वारा युगावतारों अर्थात् भगवान् के विविध अवतारों, जो बद्धजीवों को भवबन्धन से छुड़वाते हैं, की व्याख्या के अन्तर्गत आया है। *वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्* से अन्त होने वाली स्तुति कलियुग में भगवान् कृष्ण के अवतार रूप चैतन्य महाप्रभु की प्रशंसा है। चैतन्य महाप्रभु नवद्वीप में गृहस्थ रूप में चौबीस वर्षों तक रहे और विद्वानों तथा सामान्यजनों के बीच उन्होंने काफी लोकप्रियता अर्जित की। उनके संकीर्तन आन्दोलन को

स्थानीय सरकार का पूर्ण समर्थन प्राप्त था, यद्यपि यह इस्लामी सरकार थी। चैतन्य महाप्रभु को लक्ष्मी से विवाह करने का सौभाग्य प्राप्त था। कोई भी सामान्य स्त्री चाहे वह कितनी सजी-धजी क्यों न हो लक्ष्मी की बराबरी नहीं कर सकती। ब्रह्माण्ड का हर व्यक्ति, यहाँ तक कि ब्रह्मा भी लक्ष्मी की खोज में रहते हैं। इसीलिए यहाँ *सुरेप्सित* शब्द आया है।

किन्तु चैतन्य महाप्रभु ब्राह्मण रूप में भगवान् कृष्ण हैं, अतएव वे निश्चय ही *धर्मिष्ठः* अर्थात् अत्यन्त धार्मिक हैं। ईश्वर तो सदैव धर्मिष्ठ होता है, चाहे वह ग्वालबाल के रूप में प्रकट हो अथवा महान् राजा या ब्राह्मण के रूप में जन्म ले, क्योंकि स्वयं भगवान् समस्त धर्मों के मूल उत्स तथा साकार रूप हैं। किन्तु चैतन्य महाप्रभु की लीलाओं में बहुत ही कम राजनीतिक या आर्थिक कार्यकलाप हैं। चैतन्य महाप्रभु एक महान् दार्शनिक ब्राह्मण के रूप में प्रकट हुए थे, अतएव वे निश्चित रूप से *धर्मिष्ठः* हैं। *चैतन्य-चरितामृत* (आदि लीला, अध्याय १७) में यह वर्णन आया है कि एक ब्राह्मण जो अत्यन्त कटु स्वभाव का तथा अन्यों को कोसने वाला था, उस कक्ष में नहीं घुस सका, जिसमें महाप्रभु कीर्तन कर रहे थे, क्योंकि दरवाजा बन्द था। इससे अत्यन्त क्षुब्ध होकर तथा अपना जनेऊ तोड़ते हुए उसने अगले दिन चैतन्य महाप्रभु को कोसते हुए गंगातट पर यह कहा, ''मैं अब तुम्हें शाप दे रहा हूँ, क्योंकि तुम्हारे आचरण से मुझे पीड़ा पहुँची है। तुम समस्त भौतिक सुख से वंचित हो जाओगे।'' किन्तु इससे चैतन्य महाप्रभु को अपने मन में बहुत खुशी हुई, क्योंकि उनका मिशन था—*वैराग्यविद्या निजभक्तियोग* अर्थात् भौतिक इन्द्रियतृप्ति की माया का परित्याग और चौबीसों घण्टे दृढ़ता से प्रतिदिन भगवद्भक्ति में रत रहना। इसलिए चैतन्य महाप्रभु ने इस शाप को वरदान माना और उसके तुरन्त बाद संन्यास ग्रहण किया। इस तरह इस श्लोक में कहा गया है कि *आर्यवचसा* अर्थात् ब्राह्मण के शब्दों से चैतन्य महाप्रभु ने संन्यास ग्रहण किया (*यद् अगाद् अरण्यम्*) और विभिन्न जंगलों से होकर वृन्दावन तथा उसके बाद दक्षिण भारत की यात्रा की। वे विशेष रूप से ब्राह्मण-जाति की प्रतिष्ठा बनाये रखना चाहते थे, इसलिए उन्होंने ब्राह्मण के शाप को अक्षत रखने का निश्चय किया।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *मायामृगम्* शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है। *माया* का अर्थ है अपनी तथाकथित पत्नी, सन्तान तथा बैंक-खाता जो मनुष्य को देहात्म बुद्धि से जकड़े रखते हैं। *मृगम्* शब्द *मृग्यति* अर्थात् ''खोजने'' का सूचक है। इस प्रकार *मायामृगम्* सूचक है उस बद्धजीव का, जो

समाज, मैत्री तथा प्रेम के भौतिक देहात्म बोध में अधुनातम इन्द्रिय-तृप्ति की खोज के पीछे दीवाना रहता है। *अन्वधावत्* बताता है कि चैतन्य महाप्रभु निरन्तर पतित जीवों की खोज में इधर-उधर दौड़ते रहते थे। कभी कभी वे बद्धजीवों को धार्मिक मैत्री या आनन्द के बहाने गले लगाते थे। किन्तु वास्तविकता तो यह थी कि वे बद्धजीवों के शरीरों का स्पर्श उन्हें भवसागर से खींच कर भगवत्प्रेम के सिन्धु में डालने के लिए करते थे। इस तरह चैतन्य महाप्रभु सर्वाधिक दयालु तथा वदान्य भगवत् अवतार थे, जिनकी दया जातिपाँति तथा रंग के सांसारिक भेदभाव की सीमाओं को लाँघ चुकी थी।

दयितया शब्द की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। यह संस्कृत शब्द *दया* से निकला है और यह सूचित करता है कि महाप्रभु अत्यन्त दयालु हाने के कारण भगवान् की बहिरंगा माया से मोहित तथा विचलित बद्धजीवों को बचाने में लगे रहते थे। अत्यन्त दयालु होने का गुण *महापुरुष* अथवा भगवान् के चरित्र का अंश है।

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार इस श्लोक में भगवान् कृष्ण के आदि श्यामल रूप अवतार का भी वर्णन हुआ है। इस प्रकार *सुरेप्सितराज्यलक्ष्मीम्* शब्द *श्रीमथुरासम्पत्तिम्* अर्थात् मथुरा के ऐश्वर्य को सूचित करते हैं। वैदिक साहित्य में मथुरा को समस्त ऐश्वर्य का आगार कहा गया है क्योंकि उस भूभाग को भगवान् के चरणकमल का स्पर्श प्राप्त हुआ है। किन्तु कृष्ण ऐश्वर्यशाली मथुरा में जन्म लेकर भी वनग्राम वृन्दावन चले गये थे। *आर्यवचसा* शब्द इस सन्दर्भ में कृष्ण के माता-पिता वसुदेव-देवकी के आदेश का सूचक है। *श्रीमद्भागवत* (१०.३.२२, २९) में वसुदेव तथा देवकी दोनों ही कंस की धमकी के कारण भयभीत रहते हैं, क्योंकि उसने कृष्ण के बड़े भाइयों को पहले ही मार डाला था। इस तरह *आर्यवचसा* शब्द सूचित करता है कि उन्होंने बड़े ही प्यार से कृष्ण से प्रार्थना की कि वे किसी तरह कंस से बचने का प्रबन्ध करें। इसलिए उनके आदेश का पालन करने के लिए उन्होंने अपने को वृन्दावन में स्थानान्तरित कर दिया। (*यद् अगाद् अरण्यम्*)

इस सन्दर्भ में *मायामृगम्* शब्द श्रीमती राधारानी तथा श्रीकृष्ण के मध्य विशेष उच्च सम्बन्ध का सूचक है। *माया* के द्वारा कृष्ण की अन्तरंगा शक्ति *योगमाया* भी सूचित होती है। कृष्ण की अन्तरंगा शक्ति का आदि रूप श्रीमती राधारानी है। श्रीमती राधारानी के अचिन्त्य प्रेम के कारण भगवान् कृष्ण उनके वश में रहते हैं। इस प्रकार यहाँ पर *मृगम्* अर्थात् ''पशु'' *क्रीड़ामृगम्* अर्थात् पशु-खिलौने का

सूचक है। जिस तरह कोई सुन्दर बालिका अनेक गुड़ियों या पशु-खिलौनों से खेल सकती है, उसी तरह भगवान् कृष्ण सर्वाधिक सुन्दरी तरुणी श्रीमती राधारानी, के हाथ के खिलौने बने रहते हैं। श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार श्रीमती राधारानी ने श्रीकृष्ण को बाँधने के लिए अनेक प्रकार से पूजा की थी, क्योंकि वे कृष्ण के बिना रह नहीं सकतीं। इस तरह श्रीमती राधारानी के *आराधन* के कारण कृष्ण कभी भी वृन्दावन नहीं छोड़ सकते। वे वृन्दावन में गौवों की रक्षा करते हुए, अपने मित्रों के साथ खेलते तथा श्रीमती राधारानी और गोपियों के साथ अनेक प्रकार से प्रेम-क्रीड़ाएँ करते हुए इधर-उधर दौड़ते रहते हैं। *अन्वधावत्* शब्द कृष्ण द्वारा श्रीमती राधारानी के प्रेम के वशीभूत होकर वृन्दावन की दिव्य भूमि में दौड़ते हुए बाल-क्रीड़ाएँ करने का द्योतक है।

श्रील श्रीधर स्वामी ने व्याख्या की है कि किस तरह यह श्लोक श्री रामचन्द्र के अवतार का भी वर्णन करता है। यद्यपि भगवान् पूर्ण स्वतंत्र हैं और हर वस्तु से विलग हैं, किन्तु वे अपने शुद्ध भक्तों के प्रेम के वशीभूत हो जाते हैं। महान् राजधानी अयोध्या में सारे नागरिक उन्हें जितना वर्णन किया जा सके उससे भी अधिक प्रेम करते थे। इस सन्दर्भ में *आर्यवचसा* का यह अर्थ है कि अपने गुरु तुल्य पिता के आदेश पर सर्वस्व छोड़ कर रामचन्द्रजी वन को चले गये। वहाँ उन्होंने सीताजी के प्रति अगाध स्नेह प्रदर्शित करते हुए *मायामृगम्*—रावण द्वारा धोखे से उत्पन्न माया रूपी मृग का पीछा किया। इस स्वर्ण-मृग के लिए श्रीमती सीतादेवी ने विशेष चाह व्यक्त की थी इसकी सूचना *दयितयेप्सितम्* शब्द से मिलती है।

भगवान् के दिव्य शरीर के सारे अंग अभिन्न हैं और उनमें परस्पर-विनिमय हो सकता है। इसका कथन *ब्रह्म-संहिता* (५.३२) में मिलता है—

अङ्गानि यस्य सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति

पश्यन्ति पान्ति कलयन्ति चिरं जगन्ति।

आनन्दचिन्मयसदुज्ज्वलविग्रहस्य

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

भगवान् के सारे अंग (*अङ्गानि*) *सकलेन्द्रियवृत्तिमन्ति* अन्य सारे अंगों का कार्य करते हैं। इस तरह भगवान् के दोनों चरणकमल भगवान् के आदि स्वरूप हैं और भगवान् के चरणकमलों की पूजा

करने से पूजा करने वाले को दिव्य आनन्द की प्राप्ति होती है। जहाँ तक आध्यात्मिक गुणों की बात है चैतन्य महाप्रभु, भगवान् कृष्ण तथा भगवान् रामचन्द्र के अवतारों में कोई अन्तर नहीं है। वैदिक वाङ्मय में कहा भी गया है *अद्वैतम् अच्युतम् अनादिम् अनन्तरूपम्।* इसलिए आचार्यों में तनिक भी मतान्तर नहीं है कि यह श्लोक एक ही परम सत्य के तीन भिन्न स्वरूपों की महिमा प्रस्तुत करता है। चैतन्य महाप्रभु निस्सन्देह भगवान् हैं। उनके दिव्य गुण वैदिक वाङ्मय में दिये हुए परब्रह्म के गुणों को हर दृष्टिकोण से पूरा करने वाले हैं। *चैतन्य-चरितामृत* (आदि लीला, अध्याय ३) में कृष्णदास कविराज गोस्वामी तथा श्रील प्रभुपाद ने श्री चैतन्य महाप्रभु के दिव्य पद की विस्तृत व्याख्या दी है, जिसे पाठक अधिक जानकारी के लिए देख सकते हैं।

हर व्यक्ति को करभाजन मुनि के आदर्श का पालन करना चाहिए और महाप्रभु, महापुरुष श्री चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों की पूजा करनी चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि मानसिक चिन्तन तथा मनमानी व्याख्याओं में अपने को सड़ने न देकर चैतन्य महाप्रभु की शरण में जाकर परम सत्य से अपने सम्बन्ध को पुनरुज्जीवित करे। जो लोग श्री चैतन्य महाप्रभु की पूजा कर रहे हैं उन्हें अद्‌भुत आध्यात्मिक फल मिल रहा है और वे कृष्ण-प्रेम रूपी फल का आस्वाद ले रहे हैं। अतएव *वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्:* हम आदि भगवान् चैतन्य महाप्रभु के चरणकमलों को नमस्कार करें जिनकी महिमा *श्रीमद्‌भागवत* में *महापुरुष* के रूप में गाई गई है।

इस श्लोक की व्याख्या के अनुरूप चैतन्य महाप्रभु के अनुयायीगण उनके *षड्‌भुज* रूप की भी पूजा करते हैं। इस रूप की दो भुजाओं में संन्यासी चैतन्य महाप्रभु का कमण्डल तथा दण्ड रहते हैं, दो भुजाओं में भगवान् कृष्ण की बाँसुरी रहती है और दो हाथों में भगवान् रामचन्द्रजी के धनुष-बाण रहते हैं। यह *षड्‌भुज* रूप ही *श्रीमद्‌भागवत* के इस श्लोक का वास्तविक तात्पर्य है।

एवं युगानुरूपाभ्यां भगवान्युगवर्तिभिः ।
मनुजैरिज्यते राजन्श्रेयसामीश्वरो हरिः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; युग-अनुरूपाभ्याम्—प्रत्येक युग के अनुरूप (विशिष्ट नामों तथा रूपों द्वारा); भगवान्—भगवान्; युग-वर्तिभिः—विभिन्न युगों में रहने वालों द्वारा; मनुजैः—मनुष्यों के द्वारा; इज्यते—पूजा जाता है; राजन्—हे राजा; श्रेयसाम्—समस्त आध्यात्मिक लाभ का; ईश्वरः—नियंत्रक; हरिः—भगवान् हरि।

इस प्रकार हे राजन्, भगवान् हरि जीवन के समस्त वांछित फलों को देने वाले हैं। बुद्धिमान मनुष्य भगवान् के उन विशेष रूपों तथा नामों की पूजा करते हैं, जिन्हें भगवान् विभिन्न युगों में प्रकट करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *युगानुरूपाभ्याम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *अनुरूप* का अर्थ है ''उचित''। भगवान् कृष्ण चाहते हैं कि सारे बद्धजीव आनन्द तथा ज्ञानमय जीवन के लिए भगवद्धाम वापस आयें। इस तरह चारों युगों में—सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि में—भगवान् ऐसे रूप में प्रकट होते हैं, जो उस युग के मनुष्यों द्वारा पूजने के अनुरूप होता है। श्रील रूप गोस्वामी ने *लघु भागवतामृत* (पूर्वखण्ड १.२५) में कहा है—

कथ्यते वर्णनामाभ्यां शुक्ल:सत्ययुगे हरि: ।

रक्त: श्याम: कर्मात् कृष्णस्त्रेतायां द्वापरे कलौ ॥

''भगवान् हरि को उनके रंग तथा नामों के अनुसार सत्ययुग में शुक्ल (श्वेत अथवा परम शुद्ध) तथा त्रेता, द्वापर और कलियुग में क्रमश: रक्त, श्याम तथा काला कहा जाता है।'' इस तरह उन्हें प्रत्येक युग में महिमा-गायन के उपयुक्त नाम दिये जाते हैं—यथा सत्ययुग में हंस तथा सुपर्ण, त्रेतायुग में विष्णु तथा यज्ञ और द्वापर युग में वासुदेव तथा संकर्षण, किन्तु कलियुग में ऐसे नाम नहीं रखे जाते, यद्यपि ऐसे नाम होते हैं ताकि इससे श्री चैतन्य महाप्रभु के अवतार की सत्यता को हल्के-फुल्के ढंग से प्रकट करने से बचा जा सके।

कलियुग में मानव समाज दिखावे तथा ओछेपन से व्याप्त है। इस युग में नकल तथा धूर्तता की प्रबल प्रवृत्ति पाई जाती है। इसीलिए वैदिक वाङ्मय में श्री चैतन्य महाप्रभु के अवतार को गोपनीय रखा गया है, जिससे केवल वे अधिकृत भक्त ही जान सकें, जो उनके बाद पृथ्वी पर उनके संदेश का प्रसार कर सकते हों। सचमुच ही इस आधुनिक युग में अनेक मूर्ख तथा सामान्य व्यक्ति अपने को ईश्वर या अवतार कहते देखे जाते हैं। ऐसे अनेक सस्ते दर्शन तथा ऐसी अकादमियाँ हैं, जो थोड़ी-सी फीस (शुल्क) लेकर मनुष्य को अल्पकाल में ईश्वर बनाने का वचन देती हैं। अमरीका का एक धार्मिक समुदाय अपने अनुयायियों को यह वचन देता है कि वे स्वर्ग में ईश्वर बन जायेंगे। ईसाइयत के नाम पर

ऐसा भ्रष्ट प्रचार हो रहा है। अतएव यदि वैदिक वाङ्मय में चैतन्य महाप्रभु के नाम का खुलकर कथन किया जाता, तो संसार में नकली चैतन्य महाप्रभुओं की बाढ़ आ जाती।

इसीलिए कलियुग में इस तरह की भगदड़ से बचाने के लिए वैदिक ग्रंथों में विवेक का सहारा लिया गया है और वैदिक संस्कृति के अनुयायियों को गंभीर और गुह्य विधि से वैदिक मंत्रों द्वारा श्री चैतन्य महाप्रभु के अवतरण की सूचना दी जाती है। कलियुग में अपने प्राकट्य के लिए भगवान् ने जो यह विवेकपूर्ण विधि चुनी है, वह इस धरा लोक पर काफी सफल सिद्ध हो रही है। इस तरह विश्व-भर में करोड़ों लोग लाखों नकली चैतन्य महाप्रभुओं के असह्य उत्पीड़न के बिना ही कृष्ण-नाम का कीर्तन कर रहे हैं। जो लोग भगवान् के पास पहुँचने के लिए सचमुच ही इच्छुक हैं, वे महाप्रभु के मिशन को आसानी से समझ सकते हैं, जबकि झूठी प्रतिष्ठा से फूले हुए और अपनी बुद्धि को कृष्ण की बुद्धि से बड़ी मानते हुए उन्मत्त भौतिकतावादी धूर्तगण इस जगत में सुचारु रूप से भगवान् द्वारा बनाई गई अवतार लेने की व्याख्या को नहीं समझ सकते। इस तरह यद्यपि कृष्ण *श्रेयसाम् ईश्वर:*—अर्थात् समस्त वरों के स्वामी हैं, किन्तु ऐसे मूर्खजन भगवान् के मिशन से पराङ्मुख होकर अपने को जीवन के असली लाभ से वंचित रखते हैं।

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुण ज्ञा: सारभागिन: ।
यत्र सङ्कीर्तनेनैव सर्वस्वार्थोऽभिलभ्यते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

कलिम्—कलियुग की; सभाजयन्ति—प्रशंसा करते हैं; आर्या:—प्रगतिशील लोग; गुण-ज्ञ:—(युग की) असलियत को जानने वाले; सार-भागिन:—सार ग्रहण करने वाले; यत्र—जिसमें; सङ्कीर्तनेन—भगवान् के नाम का सामूहिक कीर्तन करके; एव—मात्र; सर्व—सभी; स्व-अर्थ:—इच्छित लक्ष्य; अभिलभ्यते—प्राप्त किये जाते हैं।

जो लोग सचमुच ज्ञानी हैं, वे इस कलियुग के असली महत्व को समझ सकते हैं। ऐसे प्रबुद्ध लोग कलियुग की पूजा करते हैं, क्योंकि इस पतित युग में जीवन की सम्पूर्ण सिद्धि संकीर्तन सम्पन्न करके आसानी से प्राप्त की जा सकती है।

तात्पर्य : यहाँ पर बतलाया गया है कि सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि—इन चार युगों में कलियुग ही सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि इस युग में भगवान् चेतना की सर्वोच्च सिद्धि, कृष्णभावनामृत, का मुक्तहस्त से वितरण करते हैं। *आर्य* शब्द की परिभाषा श्रील प्रभुपाद ने "वह व्यक्ति जो आध्यात्मिक उन्नति कर रहा हो" के रूप में की है। प्रबुद्ध व्यक्ति का स्वभाव जीवन के सार की खोज करना है। उदाहरणार्थ,

भौतिक शरीर का सार शरीर न होकर शरीर के भीतर स्थित आत्मा है। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति नश्वर शरीर की अपेक्षा शाश्वत आत्मा की ओर अधिक ध्यान देता है। इसी तरह यद्यपि कलियुग को कल्मष का सागर माना जाता है, किन्तु कलियुग में भाग्य का समुद्र भी है—वह है संकीर्तन आन्दोलन। दूसरे शब्दों में, इस युग के सारे अधम गुणों का पूर्ण निराकरण भगवन्नाम कीर्तन करने से हो जाता है। अतएव वैदिक भाषा में कहा गया है—

ध्यायन्कृते यजन्यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।

यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

''सत्ययुग में ध्यान द्वारा, त्रेता में यज्ञ द्वारा तथा द्वापर में पूजा द्वारा जो कुछ अर्जित किया जाता है, उसे कलियुग में सामूहिक रूप से केशव नाम का कीर्तन करके प्राप्त किया जाता है।''

वैदिक विधि बद्धजीव को धीरे धीरे अहंकार के अंधकार अर्थात् स्थूल भौतिक शरीर से झूठी पहचान से ऊपर उठाती है और आत्म-साक्षात् अथवा *अहं ब्रह्मास्मि*—अर्थात् मैं आत्मा हूँ, मैं नित्य हूँ—के पद तक ले जाती है। फिर उसे यह खोजना होता है कि यद्यपि मैं नित्य हूँ, किन्तु एक परम शाश्वत पुरुष है, जो ब्रह्माण्ड के कण-कण के भीतर तथा हर एक के हृदय के भीतर स्थित साक्षात् भगवान् है। इस आत्म-साक्षात्कार की द्वितीय अवस्था के आगे भी सिद्धि की तीसरी एवं अन्तिम अवस्था होती है, जो भगवान् के धाम में भगवान् का साक्षात्कार है।

भगवान् मूलतः इस जगत के अधीक्षक नहीं प्रत्युत अपने ही जगत के भोक्ता हैं, जो बद्धजीव के अतिकाल्पनिक स्वप्नों से भी परे हैं। दूसरे शब्दों में, यद्यपि राजा या देश का राष्ट्रपति जेल-विभाग का नियंत्रक होता है, किन्तु उसे वास्तविक सुख अपने ही घर में मिलता है, मूर्ख बन्दियों को फैसला सुनाने में नहीं। इसी तरह भगवान् भौतिक सृष्टि का संचालन करने हेतु देवताओं को नियुक्त करते हैं और स्वयं अपने दिव्य धाम में दिव्य आनन्द-सागर में मग्न रहते हैं। इस तरह भगवान् के ही धाम में उनका साक्षात्कार करना—इस भौतिक जगत रूपी कारागार के स्रष्टा के रूप में भगवान् को समझना अधिक श्रेष्ठ है। भगवान् का यह साक्षात्कार इस समझ से प्राप्त होता है कि आध्यात्मिक आकाश में असंख्य वैकुण्ठ-लोक हैं और इनमें हर एक में नारायण का अंश-विशेष अपने उन असंख्य भक्तों के साथ निवास करता है, जो उस विशेष रूप के साथ जुड़े रहते हैं। आध्यात्मिक आकाश का केन्द्रीय एवं

मुख्य लोक कृष्ण-लोक कहलाता है और यहाँ पर भगवान् अपने परम एवं आदि गोविन्द रूप को प्रकट करते हैं। *गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि* द्वारा ब्रह्मा ने इसकी पुष्टि की है। ब्रह्मा ने *ब्रह्म-संहिता* (५.१) में यह भी कहा है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।

अनादिरादि गोविन्दः सर्वकारणकारणम्॥

इस तरह कृष्ण-प्रेम तथा आध्यात्मिक आकाश में कृष्ण-लोक के भीतर प्रवेश पाना कहीं भी और किसी भी काल में संपूर्ण सृष्टि में जीवन की सर्वोच्च तथा भव्य स्थिति है। यह पूर्णता कलियुग में मात्र भगवन्नाम कीर्तन करने से उपलब्ध है। अतएव हर विवेकशील पुरुष, स्त्री या बालक को चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रदत्त सुअवसर को गम्भीरतापूर्वक समझना चाहिए और इस कीर्तन को अपनाना चाहिए। केवल अभागे तथा अनुदार व्यक्ति ही इस दिव्य अवसर की उपेक्षा करेंगे।

न ह्यतः परमो लाभो देहिनां भ्राम्यतामिह ।
यतो विन्देत परमां शान्तिं नश्यति संसृतिः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

न—नहीं है; हि—निस्सन्देह; अतः—इस (संकीर्तन विधि) की अपेक्षा; परमः—महान्; लाभः—प्राप्त करने योग्य वस्तु; देहिनाम्—देहधारियों के लिए; भ्राम्यताम्—विचरण करने के बाध्य हुए; इह—इस ब्रह्माण्ड-भर में; यतः—जिससे; विन्देत—प्राप्त करता है; परमाम्—परम; शान्तिम्—शान्ति; नश्यति—तथा नष्ट करता है; संसृतिः—जन्म-मृत्यु के आवागमन को।.

निस्सन्देह, भौतिक जगत में विचरण करने के लिए बाध्य किये गये देहधारी जीवों के लिए भगवान् के संकीर्तन आन्दोलन से बढ़कर और कोई सम्भावित लाभ नहीं है, जिसके द्वारा वह परम शान्ति पा सके और अपने को बारम्बार जन्म-मृत्यु के चक्र से छुड़ा सके।

तात्पर्य : *स्कन्द पुराण* तथा अन्य पुराणों में निम्नलिखित वक्तव्य प्राप्य है—*महाभागवता नित्यं कलौ कुर्वन्ति कीर्तनम्*—कलियुग में भगवान् के महान् भक्तगण सदैव कीर्तन में व्यस्त रहते हैं। भगवान् स्वभाव से दयालु हैं और वे उन पर विशेष रूप से कृपालु रहते हैं, जो असहायावस्था में उनके चरणकमलों में पूरी तरह आत्म-समर्पण कर देते हैं। कोई भी व्यक्ति भगवान् के पवित्र नामों का कीर्तन करके तुरन्त भगवान् के चरणकमलों में शरण पा सकता है। श्रील श्रीधर स्वामी के अनुसार पूर्वयुगों में भी, यहाँ तक कि सत्ययुग में भी, जीवों के लिए सिद्धि प्राप्त करना सम्भव न था, जितना कि कलियुग में है। श्रील जीव गोस्वामी ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—प्राचीन युगों में, यथा सत्ययुग में

मनुष्य पूर्णतया योग्य होते थे और वे बिना खाये-पिये या सोये हुए हजारों वर्षों तक ध्यान करते हुए कठिन से कठिन आध्यात्मिक विधियाँ सम्पन्न कर सकते थे। इस तरह यद्यपि भगवान् के नाम की शरण ग्रहण करने वाला कोई भी व्यक्ति सारी सिद्धि पा सकता है, किन्तु सत्ययुग के अत्यन्त योग्य व्यक्ति यह नहीं मानते थे कि मात्र जीभ और होंठ हिलाना अर्थात् भगवन्नाम कीर्तन करना पूर्ण विधि है और भगवान् का पवित्र नाम ही सारे ब्रह्माण्ड में एकमात्र आश्रय है, इसलिए वे ध्यान, आसन, प्राणायाम और समाधि जैसी कठिन एवं विस्तृत योग-विधियों के प्रति आकृष्ट होते थे। सत्ययुग में पापमय जीवन का नाम तक नहीं था, इसलिए उस युग के लोग कलियुग में दिखाई पड़ने वाले कर्मफलों—यथा विश्वयुद्ध, दुर्भिक्ष, प्लेग, सूखा, पागलपन इत्यादि के द्वारा पीड़ित नहीं होते थे। यद्यपि सत्ययुग में लोग भगवान् को जीवन का चरम लक्ष्य मान कर पूजते थे और दृढ़तापूर्वक *धर्म* का पालन करते थे, किन्तु वे अपने को असहाय नहीं मानते, फलत: उन्हें भगवान् के प्रति गहन प्रेम का अनुभव नहीं हो पाता।

किन्तु कलियुग में जीवन-परिस्थितियाँ इतनी असहनीय हैं, आधुनिक सरकारें इतनी घिनौनी हैं, हमारे शरीर कायिक तथा मानसिक रोग से इतने त्रस्त हैं और आत्मसंयम भी इतना कष्टकर हो चुका है कि बद्धजीव इस युग के घातक हमले से बचाव के लिए याचना करते हुए जोर से कृष्ण-कृष्ण चिल्ला उठते हैं। कृष्णभावनामृत आन्दोलन के सदस्यों को इस युग में मानव समाज में व्याप्त विरोधाभासों का प्रत्यक्ष एवं अविस्मरणीय अनुभव है, अतएव उन्हें विश्वास है कि भगवान् की कृपा के अतिरिक्त अन्य कुछ प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है। विश्व-भर में हमारे इस्कॉन केन्द्रों में अत्यन्त अद्भुत ढंग से भावपूर्ण कीर्तन किये जाते हैं, जिसमें सभी क्षेत्रों के पुरुष, स्त्री तथा बालक बड़े ही उत्साह से कृष्ण-नाम का कीर्तन करते हैं और आनन्दमग्न होकर नाचते हैं और वे तथाकथित जन-भूत की बिल्कुल परवाह नहीं करते। अमरीका में ओबरलिन कालेज के एक प्रोफेसर कैलीफोर्निया में स्थित एक हरे कृष्ण केन्द्र देखने आये, तो कृष्ण के पवित्र नाम के सामूहिक संकीर्तन में, भक्तों के उत्साह को देखकर चकित रह गये।

इस तरह अपनी असहाय तथा दीन अवस्था के कारण कलियुग में सारे जीवों में कृष्ण-नाम के प्रति पूर्ण आत्म-समर्पण की अन्त:प्रेरणा है और वे अपनी सारी आशाएँ तथा विश्वास कृष्ण-नाम पर ही केन्द्रित करते हैं। इसलिए कलियुग सर्वोत्तम युग है, क्योंकि इस युग में सत्ययुग या अन्य युगों की

अपेक्षा कहीं अधिक तीव्रता से बद्धजीव माया के राज्य से विमुख होकर कृष्ण के पवित्र नाम की शरण ग्रहण करते हैं। पूर्ण समर्पण की यह दशा *परमाम् शान्तिम्* कहलाती है।

श्रील मध्वाचार्य ने *स्वाभाव्य* नामक ग्रंथ से इस आशय का एक उद्धरण दिया है कि परम्परा-प्राप्त प्रामाणिक गुरु अपने शिष्यों की मनोवृत्ति तथा क्षमताओं को समझ सकता है और उनको उपयुक्त पूजा-विधि में लगा सकता है। इस तरह गुरु अपने शिष्यों के मार्ग के सारे अवरोधों को दूर कर देता है। सामान्य नियम यह है कि कोई भी व्यक्ति अपने वर्तमान युग में प्रकट होने वाले भगवान् के विशेष स्वरूप की पूजा करे। उसे भगवान् के उन अन्य रूपों से भी प्रेम और उनकी पूजा करनी चाहिए, जो अन्य युगों में प्रकट होते हैं। यह विशेष संस्तुति की जाती है कि समस्त प्रकार की सुरक्षा पाने के लिए नृसिंहदेव के नाम का कीर्तन किया जाय। इस्कॉन आन्दोलन में इन सारे आदेशों को व्यवहार में लाया जाता है। कृष्णभावनामृत समाज के अन्तर्गत सारे मनुष्यों, स्त्रियों तथा बच्चों को उनके स्वभाव के अनुसार भगवान् की पूजा में लगाया जाता है। इसके अतिरिक्त चैतन्य महाप्रभु के आदेशानुसार हम द्वापर युग में प्रकट हुए कृष्ण तथा बलराम की भी पूजा करते हैं, क्योंकि वे आदि भगवान् हैं। इसी तरह दशावतार स्तोत्र, *जय जगदीश हरे* का कीर्तन करके और *श्रीमद्भागवत* का पठन करके इस्कॉन के सदस्य भगवान् के समस्त स्वांशों की पूजा करते हैं। प्रत्येक आरति के पश्चात् इस आन्दोलन की रक्षा के लिए नृसिंहदेव की स्तुति की जाती है, जो मानव समाज के लिए अत्यावश्यक है।

कृतादिषु प्रजा राजन्कलाविच्छन्ति सम्भवम् ।
कलौ खलु भविष्यन्ति नारायणपरायणाः ।
क्वचित्क्वचिन्महाराज द्रविडेषु च भूरिशः ॥ ३८ ॥
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतमाला पयस्विनी ।
कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी ॥ ३९ ॥
ये पिबन्ति जलं तासां मनुजा मनुजेश्वर ।
प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशयाः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

कृत-आदिषु—सत्ययुग तथा अन्य पूर्ववर्ती युगों के; प्रजाः—निवासी; राजन्—हे राजा; कलौ—कलियुग में; इच्छन्ति—इच्छा करते हैं; सम्भवम्—जन्म; कलौ—कलियुग में; खलु—निश्चय ही; भविष्यन्ति—होंगे; नारायण-परायणाः—भगवान् नारायण की सेवा में समर्पित लोग; क्वचित् क्वचित्—इधर-उधर; महा-राज—हे महान् राजा; द्रविडेषु—दक्षिण भारत के राज्यों में; च—लेकिन; भूरिशः—विशेष रूप से अधिक मात्रा में; ताम्रपर्णी—ताम्रपर्णी नामक; नदी—नदी; यत्र—जहाँ; कृतमाला—कृतमाला; पयस्विनी—पयस्विनी; कावेरी—कावेरी; च—तथा; महा-पुण्या—अत्यन्त पवित्र; प्रतीची—प्रतीची नामक; च—

तथा; महा-नदी—महानदी; ये—जो; पिबन्ति—पीते हैं; जलम्—जल; तासाम्—उनके; मनुजा:—मनुष्यगण; मनुज-ईश्वर—हे मनुष्यों के स्वामी (निमि); प्राय:—अधिकांशत:; भक्ता:—भक्तगण; भगवति—भगवान् के; वासुदेवे—वासुदेव में; अमल-आशया:—विमल हृदय वाले।

हे राजन्, सत्ययुग तथा उसके पूर्व के अन्य युगों के निवासी इस कलियुग में जन्म लेने की तीव्र कामना करते हैं, क्योंकि इस युग में भगवान् नारायण के अनेक भक्त होंगे। ये भक्तगण विविध लोकों में प्रकट होंगे, किन्तु दक्षिण भारत में विशेष रूप से जन्म लेंगे। हे मनुष्यों के स्वामी, कलियुग में जो व्यक्ति द्रविड़ देश की पवित्र नदियों, यथा ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, अतीव पवित्र कावेरी तथा प्रतीची महानदी का जलपान करेंगे, वे सारे के सारे भगवान् वासुदेव के शुद्ध हृदय वाले भक्त होंगे।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड-भर में भूत, वर्तमान तथा भविष्य की जीवन-स्थितियों की जानकारी वेदों में मिलती है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उदाहरणार्थ, यद्यपि इस समय भारत में वसन्त ऋतु है, किन्तु हमें पता है कि इसके बाद भीषण ग्रीष्म आयेगी, तत्पश्चात् वर्षाऋतु, शरद, शिशिर, हेमन्त और पुन: वसन्त ऋतु आयेगी। इसी तरह हम यह जानते हैं कि भूतकाल में ये ऋतुएँ आती-जाती रही हैं। जिस तरह सामान्य मानव-प्राणी पृथ्वी की भूत, वर्तमान तथा भावी ऋतुओं को समझ सकते हैं, उसी तरह वैदिक संस्कृति के मुक्त अनुयायी भी पृथ्वी तथा अन्य लोकों के भूत, वर्तमान तथा भावी ऋतु-चक्रों को समझते हैं। सत्ययुग के निवासी निश्चित रूप से कलियुग की दशाओं से परिचित रहते हैं। वे जानते हैं कि कलियुग में कठिन भौतिक स्थिति जीव को भगवान् की पूर्ण शरणागति के लिए बाध्य करती है और कलियुग के निवासी अपने में उच्च कोटि का भगवत्प्रेम उत्पन्न करते हैं। इसीलिए सत्ययुग के निवासी अन्य युगों की अपेक्षा अधिक पापरहित, सत्यनिष्ठ तथा आत्मसंयमी होते हुए भी शुद्ध कृष्ण-प्रेम का आस्वादन करने के लिए कलियुग में जन्म लेना चाहते हैं।

भगवान् के भक्तों की संगति किये बिना कोई भी व्यक्ति भगवान् का उच्च भक्त नहीं बन सकता। चूँकि कलियुग में प्रतिकूल परिस्थिति के कारण अन्य वैदिक विधियाँ विफल हो जाती हैं और चूँकि भगवन्नाम कीर्तन की विधि ही हर एक के लिए एकमात्र उपलब्ध विधि बची रहती है, अतएव इस युग में असंख्य वैष्णव अथवा भगवद्भक्त होंगे। जो व्यक्ति भक्तों की संगति करने का इच्छुक रहता है, उसके लिए इस युग में जन्म लेना अत्यन्त अनुकूल होता है। निस्सन्देह कृष्णभावनामृत आन्दोलन

विश्व-भर में प्रामाणिक वैष्णव मन्दिरों की स्थापना कर रहा है, जिससे असंख्य क्षेत्रों के लोग शुद्ध वैष्णवों की संगति का लाभ उठा सकें।

भगवद्भक्तों की संगति केवल आत्मसंयमी, निष्पाप अथवा वैदिक पाण्डित्य में दक्ष व्यक्तियों की संगति से कहीं अधिक मूल्यवान है। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* (६.१४.५) में कहा गया है—

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायण:।

सुदुर्लभ: प्रसन्नात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

''हे साधु! करोड़ों मुक्तों तथा मुक्तिज्ञान में पूर्ण व्यक्तियों में शायद ही कोई एक व्यक्ति नारायण अथवा कृष्ण भक्त होता है। ऐसे भक्त जो पूर्णतया शान्त हों, अत्यन्त दुर्लभ हैं।'' इसी तरह *चैतन्य-चरितामृत* (मध्य २२.५४) में कहा गया है—

'साधु-संग', 'साधु-संग'—सर्वशास्त्रे कय।

लव-मात्र साधु-संगे सर्व-सिद्धि हय॥

''सभी शास्त्रों का यही निर्णय है कि शुद्ध भक्त के साथ एक क्षण की भी संगति से सारी सफलता प्राप्त की जा सकती है।''

श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार इस श्लोक में आगत *क्वचित् क्वचित्* शब्द यह सूचित करते हैं कि कलियुग में श्रीकृष्ण चैतन्य नदिया जिले के गौड़ देश में प्रकट होंगे और इसी केन्द्रबिन्दु से वे ईश-प्रेम की बाढ़ को धीरे धीरे विस्तारित करेंगे, जिससे सम्पूर्ण धरती आप्लावित हो उठेगी। अनेक भक्त यथा श्री अद्वैताचार्य भी गौड़ देश में जन्म लेंगे।

कृष्ण-कीर्तन कलियुग तक ही सीमित नहीं है। *विष्णु धर्म* में क्षत्रिय-पुत्र के पतन की कथा के प्रसंग में कहा गया है कि—

न देश नियमस्तत्र न काल नियमस्तथा।

नोच्छिष्टादौ निषेधश्च श्रीहरेर्नाम्नि लुब्धक:॥

''न तो देश या काल का बन्धन है, न ही उच्छिष्ट भोजन ग्रहण करने की निषेधाज्ञा है, यदि कोई व्यक्ति श्री हरि के नाम का कीर्तन करने का लोभी हो जाय।'' इसी प्रकार *स्कन्द पुराण, विष्णु धर्म* एवं

पद्म पुराण के *वैशाख माहात्म्य* में कहा गया है—*चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्तयेत्*—चक्रधारी भगवान् के नामों का सदैव एवं सर्वत्र कीर्तन करना चाहिए। इसी प्रकार *स्कन्द पुराण* में कहा गया है—

न देश कालावस्थात्मशुद्ध्यादिकम् अपेक्षते।

किन्तु स्वतन्त्रमेवैतं नाम कामितकामदम्॥

''भगवन्नाम का कीर्तन देश, काल, परिस्थिति, आत्मशुद्धि या किसी अन्य कारण से नहीं किया जाना चाहिए, प्रत्युत यह अन्य समस्त विधियों से पूर्णतया स्वतंत्र है और उन सबको इच्छित फल देने वाला है, जो उत्सुकतापूर्वक इसका उच्चारण करते हैं।'' इसी प्रकार *विष्णु धर्म* में कहा गया है—

कलौ कृतयुगं तस्य कलिस्तस्य कृते युगे।

यस्य चेतसि गोविन्दो हृदये यस्य नाच्युतः॥

''जिसके हृदय में भगवान् गोविन्द होते हैं, उसके लिए कलियुग में सत्ययुग प्रकट हो जाता है, किन्तु जिसके हृदय में अच्युत भगवान् नहीं होते उसके लिए सत्ययुग भी कलियुग बन जाता है।'' कृष्ण-नाम सर्वत्र, सदैव तथा सभी परिस्थितियों में शक्तिशाली होता है, इसलिए मनुष्य को सदा ही भगवन्नाम का कीर्तन करना चाहिए, चाहे वह कलियुग हो या सत्ययुग, स्वर्ग हो या नरक या वैकुण्ठ-लोक। कृष्णन्नाम कृष्ण से अभिन्न है और कृष्ण शाश्वत भगवान् हैं। इस तरह इसी युग में पवित्र नाम शक्तिशाली हो, क्योंकि अन्य विधियाँ प्रभावशाली नहीं हैं, ऐसी बात नहीं है।

श्री विष्णु पुराण में यह भी कहा गया है कि भगवन्नाम का कीर्तन करना भगवान् को ध्यान द्वारा स्मरण करने के प्रयास की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। *श्रीमद्भागवत* (२.१.११) में शुकदेव गोस्वामी ने कहा है—

एतन्निर्विद्यमानानाम् इच्छतामकुतोभयम्।

योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम्॥

''हे राजन्! महापुरुषों का अनुसरण करते हुए भगवन्नाम का कीर्तन सबों के लिए सफलता का संशयरहित तथा भयरहित मार्ग है, जिसमें समस्त भौतिक इच्छाओं से रहित, समस्त भौतिक-भोगों के इच्छुक तथा दिव्य ज्ञान से आत्मतुष्ट रहने वाले सभी सम्मिलित हैं।'' *भागवतम्* के इस श्लोक की टीका करते हुए श्रील प्रभुपाद ने लिखा है, ''श्री शुकदेव गोस्वामी के अनुसार, सफलता प्राप्त करने का

यह मार्ग एक सुस्थापित यथार्थ है, जिस पर अकेले वे ही नहीं, अपितु अन्य पूर्ववर्ती आचार्य भी पहुँचे हैं। इसलिए और अधिक साक्ष्य की आवश्यकता नहीं है।'' पाठक को भगवन्नाम कीर्तन तथा ऐसे कीर्तन के समय अपराधों से बचे रहने के विषय में जानने के लिए, प्रभुपाद द्वारा दिये गये इस श्लोक के तात्पर्य को पढ़ना चाहिए।

वैष्णवचिन्तामणि में निम्नलिखित कथन है—

अघच्छित् स्मरणं विष्णोर्बह्वआयासेन साध्यते।

ओष्ठस्पन्दनमात्रेण कीर्तनं तु ततो वरम्॥

''यद्यपि भगवान् विष्णु का स्मरण सभी पापों को नष्ट करने में समर्थ है, किन्तु यह असाधारण प्रयास के बाद ही सम्पन्न हो पाता है। दूसरी ओर, मात्र होंठ हिलाकर कृष्ण-कीर्तन किया जा सकता है और इस तरह यह विधि श्रेष्ठ है।'' श्रील जीव गोस्वामी ने निम्नलिखित श्लोक को भी उद्धृत किया है—

येन जन्मशतै पूर्वं वासुदेवः समार्चितः।

तन्मुखे हरिनामानि सदा तिष्ठन्ति भारत॥

''हे भरतवंशी! जिसने पहले वासुदेव की पूजा सैकड़ों जीवनकाल में पूर्णरूपेण की है, उसके मुख में भगवान् विष्णु के नाम सदैव उच्चरित होते रहते हैं।'' यही भाव *श्रीमद्भागवत* (३.३३.७) में श्रीमती देवहूति द्वारा अपने पुत्र कपिल से कहे गये, वचनों में व्यक्त हुआ है—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्

यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।

तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या

ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

''ओह! कितने धन्य है वे, जिनकी जीभों पर आपका पवित्र नाम रहता है। ऐसे लोग चांडालों के परिवारों में उत्पन्न होकर भी पूज्य हैं। जो लोग आपके नाम का उच्चारण करते हैं, उन्होंने सभी प्रकार के तप तथा अग्नि यज्ञ किये होंगे और आर्यों के उत्तम आचरणों को प्राप्त किया होगा। आपका पवित्र

नाम उच्चारण करते रहने के लिए, उन्होंने तीर्थस्थानों में स्नान किया होगा, वेदों का अध्ययन किया होगा और जो भी उचित रहा होगा, उसे पूरा किया होगा।''

इसलिए श्रील जीव गोस्वामी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सभी युगों में कीर्तन करना समान रूप से सम्भव है। फिर भी कलियुग में भगवान् अपनी अहैतुकी कृपा से जीवों को पवित्र नाम लेने के लिए प्रेरित करते हैं। इस तरह भक्तिविनोद ठाकुर ने भगवान् के निम्नलिखित कथन को उद्‌धृत किया है—

एनेचि औषधि माया नाशिबार लागिऽ।

हरि-नाम महा-मन्त्र लाओ तुमि मागिऽ॥

''माया जादूगरिनी की गोद में सोने वाले मूर्ख बद्धजीवो! मैं तुम्हारे रोग को दूर करने की एक उत्तम दवा लाया हूँ। यह दवा *हरि-नाम* है। यह मेरा पवित्र नाम है और इस दवा के खाने से तुम्हें जीवन में सारी सिद्धि मिल सकेगी। इसलिए मेरा अनुरोध है कि इस दवा को ग्रहण करो, जो मैं तुम्हारे लिए स्वयं लाया हूँ।''

इस अध्याय के श्लोक ३२ में कहा गया था—*यज्ञै सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः।* श्रील जीव गोस्वामी के अनुसार *सङ्कीर्तनप्रायै,* जिसका अर्थ ''मुख्यतः संकीर्तन द्वारा'' है, शब्दों से यह इंगित होता है कि यद्यपि कलियुग में अर्चाविग्रह पूजा जैसी अन्य विधियाँ कुछ सीमा तक अपनाई जा सकती हैं, किन्तु इन्हें सफल बनाने के लिए भगवन्नाम कीर्तन से जोड़ा जाना चाहिए। जो व्यक्ति कृष्ण-अर्चाविग्रह की पूजा करता हो, उसे यह जानना चाहिए कि इस अर्चापूजा का मुख्य अंश भगवन्नाम का निरन्तर कीर्तन करना है। दूसरी ओर, जिस व्यक्ति ने ठीक से भगवन्नाम कीर्तन किया है, उसे अन्य विधियों पर आश्रित रहने की आवश्यकता नहीं रह जाती, जैसाकि इस सुप्रसिद्ध मंत्र में कहा गया है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

''इस कलियुग में आध्यात्मिक उन्नति के लिए भगवान् के पवित्र नाम के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं है, नहीं है, नहीं है।'' (बृहन्नारदीय पुराण ३८.१२६) जैसाकि इन सारे साक्ष्यों से सिद्ध होता है, *भागवत* का यह कथन (*कलिं सभाजयन्त्यार्याः*) कि कलियुग में भगवान् द्वारा सुविधाएँ प्रदान करने के कारण ही आर्यगण पूजा करते हैं, तनिक भी विरुद्ध नहीं है।

इस अध्याय के ४०वें श्लोक के अन्त में कहा गया है *प्रायो भक्ता भगवति वासुदेवेऽमलाशया:*— सामान्य रूप से जो लोग दक्षिण भारत की पवित्र नदियों के जल का नियमित पान कर पाते हैं, वे भगवान् वासुदेव के शुद्ध हृदय वाले भक्त होंगे। *प्राय:* अर्थात् ''सामान्यत:'' सूचित करता है कि जो लोग भगवान् के भक्तों का अपमान करते हैं, वे भले ही अपने को भक्त कहें, किन्तु उनकी गणना *अमलाशयों* अर्थात् शुद्ध हृदय वालों में नहीं की जाती। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर ने इंगित किया है कि लोगों को दक्षिण भारत के निवासियों की बाहरी दरिद्रता देखकर मोहग्रस्त नहीं होना चाहिए। इस श्लोक में उल्लिखित स्थानों के लोग आज भी बहुत कम भोजन तथा वस्त्र से गुजारा करते हैं और भगवान् के महान् विरक्त भक्तों के रूप में रहते हैं। दूसरे शब्दों में, वस्त्रों से मनुष्य बड़ा नहीं बनता। अपने को खूब सजा-धजाकर परिष्कृत पशु की तरह जीवन बिताना और अच्छा भोजन करके जीभ को धन्य करना, उच्च अध्यात्मवादी का असली लक्षण नहीं है। यद्यपि दक्षिण भारत के लोग सामान्यतया श्री वैष्णव हैं अथवा लक्ष्मी सम्प्रदाय के भक्त हैं, किन्तु चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी उन्हें भगवद्भक्त मानते हैं। श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर के अनुसार इन लोगों के तपस्वी जीवन को सुयोग्यता मानना चाहिए, अयोग्यता नहीं।

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां
न किङ्करो नायमृणी च राजन् ।
सर्वात्मना य: शरणं शरण्यं
गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

देव—देवताओं के; ऋषि—ऋषियों के; भूत—सामान्य जीवों के; आप्त—मित्रों तथा सम्बन्धियों के; नृणाम्—सामान्य लोगों के; पितृणाम्—पूर्वजों के; न—नहीं; किङ्कर:—सेवक; न—न तो; अयम्—यह; ऋणी—कर्जदार; च—भी; राजन्—हे राजा; सर्व-आत्मना—अपने पूरे मन से; य:—जो व्यक्ति; शरणम्—शरण; शरण्यम्—सबों को शरण देने वाला, भगवान्; गत:—पास आया हुआ; मुकुन्दम्—मुकुन्द को; परिहृत्य—त्याग कर; कर्तम्—कर्तव्य।

हे राजन्, जिस व्यक्ति ने सारे भौतिक कार्यों को त्याग कर उन मुकुन्द के चरणकमलों में पूरी तरह शरण ले रखी है, जो सबों को आश्रय देते हैं, ऐसा व्यक्ति देवताओं, ऋषियों, सामान्य जीवों, सम्बन्धियों, मित्रों, मनुष्यों या दिवंगत हो चुके पितरों का ऋणी नहीं रहता। चूँकि इन सभी श्रेणियों के जीव भगवान् के ही भिन्नांश हैं, अत: जिसने भगवान् की सेवा में अपने को

समर्पित कर दिया है, उसे ऐसे व्यक्तियों की अलग से सेवा करने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

तात्पर्य : जिस व्यक्ति ने भगवान् की भक्ति में अपने को पूरी तरह से समर्पित नहीं किया है, उसे निस्सन्देह अनेक भौतिक कार्य करने पड़ते हैं। प्रत्येक बद्धजीव को उन देवताओं से असंख्य लाभ प्राप्त होते रहते हैं, जो धूप तथा चाँदनी, वर्षा, वायु, भोजन तथा उसका शरीर तक प्रदान करने वाले हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है *स्तेन एव सः*—जो व्यक्ति देवताओं को बलि नहीं चढ़ाता वह *स्तेन* अर्थात् चोर है। इसी प्रकार अन्य जीव, यथा गौवें हमें असंख्य सुस्वादु तथा पौष्टिक भोजन सामग्री प्रदान करती हैं। प्रात:काल जब हम जागते हैं; पक्षियों के मधुर संगीत से हमारा मन ताजा हो उठता है और गर्म दिन में जंगल के वृक्षों की शीतल छाया तथा मंद वायु का हम आनन्द उठाते हैं। हम असंख्य जीवों की सेवा स्वीकार करते हैं और उन्हें प्रतिदान करने के लिए हम बाध्य हैं। *आप्त* का अर्थ है अपने परिवार के सदस्य, जिनके प्रति मनुष्य को सामान्य नैतिकता के अनुसार ऋणी होना पड़ता है तथा *नृणाम्* का अर्थ है मानव समाज। जब तक कोई व्यक्ति भगवान् का भक्त नहीं बन जाता, तब तक वह अपने समाज की ही उपज होता है। हम जिस समाज में रहते हैं, उसी से संसारी शिक्षा, संस्कृति, परम्परा तथा सुरक्षा प्राप्त करते हैं। वस्तुत: समाज के प्रति हमारा ऋण न केवल वर्तमान व्यवस्था के प्रति है, अपितु उन अपने सारे पूर्वजों तथा बाप-दादों के प्रति भी हम ऋणी हैं, जिन्होंने सावधानी से नैतिक तथा सामाजिक रीति-रिवाजों को बनाये रखा, जिससे उनके वंशज हम शान्तिमय जीवन बिता सकें। इसलिए *पितृणाम्* शब्द अपनी पूर्ववर्ती पीढ़ियों के प्रति हमार ऊपर ऋण का सूचक है।

वस्तुत: कभी कभी भौतिकतावादी लोग कृष्णभावनामृत समाज के सदस्यों की आलोचना यह कह कर करते हैं कि वे उपर्युक्त ऋणों को न निभाकर कृष्ण पर अधिक ध्यान देते हैं। इसके उत्तर में *भागवत* का (४.३१.१४) कथन है—*यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।* यदि वृक्ष की जड़ों को सींचा जाय, तो सभी शाखाएँ, पत्तियाँ स्वयमेव ही *पोषित* होती रहती हैं। उन्हें अलग से सींचने की कोई आवश्यकता नहीं है, न ही इसका प्रभाव पड़ेगा। जल को जड़ों में ही डालना होगा। इसी तरह *प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणाम्*—भोजन को आमाशय में जाना चाहिए, जहाँ से वह शरीर के सभी अंगों में स्वत: वितरित होता है। सभी अंगों पर भोजन मल कर सारे शरीर को पोषित करना

मूर्खता होगी। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण सारे जगत के उद्गम हैं। हर वस्तु उनसे उद्भूत होती है, उन्हीं के द्वारा पालित होती है और अन्त में उन्हीं में विलीन हो जाएगी। भगवान् कृष्ण सारे जीवों के परम हितैषी, मित्र, रक्षक तथा शुभचिन्तक हैं। यदि वे प्रसन्न हो जाते हैं, तो सारा संसार अपने आप प्रसन्न हो उठता है, जिस तरह आमाशय में भोजन पहुँचने पर शरीर के सारे अंग बलवान् एवं पुष्ट हो जाते हैं।

यहाँ उस व्यक्ति का उदाहरण दिया जा सकता है, जो किसी बड़े राजा का निजी सचिव होने पर क्षुद्र राजाओं के प्रति किसी तरह ऋणी नहीं होता। सामान्य व्यक्ति के लिए इस भौतिक जगत में अनेक दयित्व हैं। किन्तु *भगवद्गीता* के अनुसार *मयैव विहितान् हि तान्*—वास्तव में परमेश्वर ही सारे वर देता है। उदाहरणार्थ, मनुष्य को अपना शरीर अपने माता-पिता की कृपा से मिलता है। किन्तु कभी कभी किसी विशेष समय पर पुरुष या स्त्री नपुंसक या बाँझ हो सकते हैं। कभी कभी विकृत शिशु जन्म लेता है और कभी शिशु मृत पैदा होता है। कभी कभी संभोग करने पर भी संतति उत्पन्न ही नहीं होती। अतएव यद्यपि सारे ही माता-पिता सुन्दर तथा योग्य शिशु चाहते हैं, किन्तु प्राय: ऐसा नहीं हो पाता। अत: यह समझा जा सकता है कि अन्ततोगत्वा यह परमेश्वर की कृपा पर निर्भर करता है कि पुरुष तथा स्त्री संभोग द्वारा शिशु उत्पन्न कर पाते हैं। भगवान् की कृपा होने पर ही मनुष्य का वीर्य और स्त्री का रज उर्वर बनते हैं। इसी तरह भगवान् की ही दया से स्वस्थ शिशु उत्पन्न होता है और शारीरिक स्वस्थता प्राप्त करके अपना जीवन-निर्वाह करता है। यदि मानव-विकास की किसी भी अवस्था में भगवान् की कृपा न रहे, तो आकस्मिक मृत्यु या अपंगता हो सकती है।

देवता भी स्वतंत्र नहीं हैं। *परिहृत्य कर्तम्* अर्थात् ''अन्य कर्तव्यों को त्याग कर'' सूचित करता है कि ऐसी कोई भी धारणा त्यागनी होगी कि देवतागण कृष्ण से विलग हैं। वैदिक वाङ्मय में स्पष्ट कहा गया है कि देवतागण भगवान् के विराट शरीर के विभिन्न अंग हैं। यही नहीं, *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् हर एक के हृदय में स्थित हैं और वे ही बुद्धि तथा स्मृति प्रदान करने वाले हैं। इस तरह हमारे पूर्वज, जिन्होंने सावधानी के साथ सांस्कृतिक परम्पराओं को सुरक्षित रखा है, परमेश्वर द्वारा प्रदत्त बुद्धि से कार्य करते रहे हैं। वे अपनी स्वतंत्र बुद्धि से कार्य नहीं कर रहे थे। कोई भी व्यक्ति मस्तिष्क के बिना बुद्धिमान नहीं हो सकता और यह तो कृष्ण की कृपा है कि हमें मनुष्य का मस्तिष्क मिला है। इसलिए यदि हम सावधानी के साथ विभिन्न श्रेणी के जीवों के प्रति अपने ऋणों का विश्लेषण करें, तो

हम पायेंगे कि अन्ततः भगवान् की दया से ही हमें जीवन में कोई वर प्राप्त होता है। इस तरह यद्यपि सामान्य व्यक्ति को उन लोगों को प्रसन्न करने के लिए, जिन्होंने उसे लाभ पहुँचाया है, विभिन्न प्रकार के त्यागों तथा दान-कार्यों द्वारा अपने ऋण चुकाने होते हैं, किन्तु जो व्यक्ति सीधे भगवान् कृष्ण की सेवा करता है, वह ऐसे सारे ऋणों को तुरन्त चुकता कर देता है, क्योंकि सारे वर उसे परिवार, पूर्वजों, देवताओं इत्यादि के माध्यम से भगवान् से ही मिले होते हैं।

यहाँ पर एक उदाहरण दिया जा सकता है, जिसमें कभी कभी राज्य सरकार को केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये गये लाभांश को वितरित करना होता है। इस तरह जो व्यक्ति केन्द्रीय सरकार के मुख्य प्रशासक का निजी सचिव या मंत्री बन जाता है, उसे राज्य सरकार के कम महत्त्वपूर्ण प्रतिनिधियों का ऋणी नहीं बनना होता। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* (११.२०.९) में कहा गया है—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।

मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

''जब तक मनुष्य भगवान् के श्रवण तथा कीर्तन द्वारा भक्ति के प्रति रुचि उत्पन्न नहीं कर लेता और सकाम कर्म से तृप्त नहीं हो जाता, तब तक उसे वैदिक आदेशों के अनुसार कर्म करना पड़ता है।'' निष्कर्ष यह निकला कि जिसने भगवान् की भक्ति में अपने को पूरी तरह समर्पित कर दिया है, वह उच्च कोटि का मनुष्य है।

सामान्यतया लोग देवताओं, पारिवारिकजनों तथा समाज से वर प्राप्त करने के इच्छुक रहते हैं, क्योंकि ऐसे वर भौतिक इन्द्रिय-तृप्ति के पोषक होते हैं। अल्पज्ञ तो ऐसी भौतिक उन्नति को ही जीवन-लक्ष्य मान बैठते हैं, अतएव शुद्ध भगवद्भक्ति का उच्च पद उनकी समझ में नहीं आता। *भक्तियोग* भगवान् की इन्द्रियों को प्रसन्न करने के निमित्त है। ईर्ष्यालु भौतिकतावादी लोग अनेक प्रकार के तर्क देकर इसका निषेध करते हैं कि भगवान् के दिव्य इन्द्रियाँ भी हैं। किन्तु भक्तगण भगवान् के अचिन्त्य सौन्दर्य, बल, वैभव तथा रमणीयता के बारे में किसी प्रकार का सन्देह करके समय नष्ट नहीं करते, अपितु प्रेमाभक्ति द्वारा उनकी इन्द्रियों को प्रसन्न करते हैं और इस तरह भगवद्धाम वापस जाने का परम वर प्राप्त करते हैं। भक्तगण भगवद्धाम वापस जाते हैं, जहाँ का जीवन सच्चिदानन्द स्वरूप है। कोई देवता, पारिवारिकजन अथवा पूर्वज किसी को सच्चिदानन्द स्वरूप जीवन प्रदान नहीं कर सकता।

किन्तु यदि कोई मूर्खतावश भगवान् के चरणकमलों की उपेक्षा करके नश्वर भौतिक शरीर को ही सबकुछ मान बैठता है, तो ऊपर कहे गये ऋणों से उऋण होने के लिए उसे महान् यज्ञ, तप तथा दान करने पड़ते हैं। अन्यथा वह भौतिक दृष्टिकोण से भी पूर्णतः पापी तथा निन्दनीय बन जाता है।

स्वपादमूलम्भजतः प्रियस्य
त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः ।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ॥ ४२॥

शब्दार्थ

स्व-पाद-मूलम्—भक्तों के शरण, कृष्ण के चरणकमल; भजतः—पूजा में लगा हुआ; प्रियस्य—कृष्ण को अत्यन्त प्रिय; त्यक्त—त्यागा हुआ; अन्य—दूसरों के लिए; भावस्य—स्वभाव वाले का; हरिः—भगवान्; पर-ईशः—भगवान्; विकर्म—पापकर्म; यत्—जो भी; च—तथा; उत्पतितम्—घटित; कथञ्चित्—जैसे-तैसे; धुनोति—हटाता है; सर्वम्—समस्त; हृदि—हृदय में; सन्निविष्टः—प्रविष्ट।

जिस मनुष्य ने अन्य सारे कार्यकलापों को त्याग कर भगवान् हरि के चरणकमलों की पूर्ण शरण ग्रहण कर ली है, वह भगवान् को अत्यन्त प्रिय है। निस्संदेह यदि ऐसा शरणागत जीव संयोगवश कोई पापकर्म कर भी बैठे है, तो प्रत्येक हृदय के भीतर स्थित भगवान्, तुरन्त ही ऐसे पाप के फल को समाप्त कर देते हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् के पूर्ण-शरणागत भक्त को सामान्य सांसारिक कर्म करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। अब इस श्लोक में यह प्रकट किया गया है कि भक्ति इतनी शुद्ध तथा शक्तिशाली होती है कि भगवद्भक्त को किसी अन्य प्रकार की शुद्धि नहीं करनी होती। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के छठे स्कंध में कहा गया है, शरणागत भक्त से सहसा पापकर्म हो जाने पर *प्रायश्चित्त* करने की आवश्यकता नहीं होती। चूँकि भक्ति स्वयं ही अत्यन्त शुद्धिकारी है, अतएव संयोगवश मार्ग से च्युत हुए भक्त को तुरन्त ही भगवान् के चरणकमलों की भक्ति पुनः चालू कर देनी चाहिए। इस तरह भगवान् उसको बचायेंगे, जैसाकि *भगवद्गीता* (९.३०) में कहा गया है—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम् अनन्यभाक्।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

प्रस्तुत श्लोक में *त्यक्तान्यभावस्य* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है शुद्ध भक्त जानता रहता है कि ब्रह्मा तथा शिव समेत सारे जीव भगवान् के भिन्नांश हैं, अतएव उनका

कोई पृथक् या स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। यह अनुभव करते हुए कि प्रत्येक वस्तु एवं प्रत्येक जीव भगवान् का भिन्नांश है, भक्त ईश्वर के आदेश का अतिक्रमण करके पापकर्म करने के प्रति उन्मुख नहीं होता। किन्तु भौतिक प्रकृति के प्रबल प्रभाव के कारण निष्ठावान भक्त भी क्षण-भर के लिए मोहग्रस्त हो सकता है और शुद्ध भक्ति के मार्ग से विचलित हो सकता है। ऐसी अवस्था में भगवान् कृष्ण स्वयं ही हृदय के भीतर से कार्य करते हुए ऐसे पापकर्मों को दूर कर देते हैं। यहाँ तक कि यमराज भी ऐसे शरणागत भक्त को, जिसने संयोगवश कोई पापकर्म किया हो दण्ड नहीं दे सकता। जैसाकि यहाँ पर कहा गया है कृष्ण *परेश* हैं, अत: देवता जैसे गौण स्वामी भगवान् के निजी भक्तों को डरा-धमका नहीं सकते। अजामिल अपनी युवावस्था में भगवान् की सेवा में लगा रहने वाला पवित्र ब्राह्मण था। तत्पश्चात्, वेश्या की कुसंगति से वह संसार का अत्यन्त अधम व्यक्ति बन गया। उसके जीवन के अन्त समय मैं यमराज ने अपने दूतों को पापी अजामिल की आत्मा को घसीट लाने के लिए भेजा, किन्तु भगवान् ने तुरन्त ही अजामिल को बचाने तथा यमराज को यह दिखाने के लिए कि कोई भी गौण व्यक्ति भगवान् के निजी भक्तों को सता नहीं सकता, तुरन्त ही अपने निजी दूतों को भेजा। *भगवद्गीता* में कहा गया है—*कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त: प्रणश्यति*।

यह तर्क किया जा सकता है कि *स्मृति-शास्त्र* का तो कहना है—*श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे*—वैदिक शास्त्र भगवान् के प्रत्यक्ष आदेश हैं। इसलिए यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि भगवान् को यह कैसे सहन हो सकता है कि यदा-कदा उनके आदेशों की उपेक्षा उनके भक्त भी करें? इस आक्षेप का उत्तर देने के लिए ही इस श्लोक में *प्रियस्य* शब्द का प्रयोग हुआ है। भगवान् के भक्त भगवान् को अत्यन्त प्रिय होते हैं। यद्यपि प्यारा शिशु संयोगवश कोई निन्दनीय कार्य कर सकता है, किन्तु प्रेमी पिता उस शिशु के वास्तविक मनोभावों को ध्यान में रखते हुए, उसे क्षमा कर देता है। इस तरह भगवद्भक्त कभी अपने भावी कष्ट को दूर करने के लिए भगवान् से प्रार्थना नहीं करता, किन्तु भगवान् अपनी ओर से भक्त के आकस्मिक पतन के फल से उसे मुक्त कर देते हैं।

अपने भक्त पर भगवान् की यह अहैतुकी कृपा उनका *परमैश्वर्यम्* है। श्रद्धावान् भक्त क्रमश: आकस्मिक पतन से भी मुक्त हो जाता है, क्योंकि भगवान् के चरणकमलों के स्मरण मात्र से उसका हृदय शुद्ध हो जाता है, भगवान् की वास्तविक भक्ति का तो कहना ही क्या? यद्यपि भगवान् के

शरणागत भक्त कभी कभी भौतिक प्रवृत्तियों से प्रभावित प्रतीत होते हैं, किन्तु कृपालु ईश्वर उनकी सदैव रक्षा करते हैं और जीवन में उनकी कभी पराजय नहीं होती।

श्रीनारद उवाच
धर्मान्भागवतानित्थं श्रुत्वाथ मिथिलेश्वरः ।
जायन्तेयान्मुनीन्प्रीतः सोपाध्यायो ह्यपूजयत् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

श्री-नारदः उवाच—नारद मुनि ने कहा; धर्मान् भागवतान्—भगवान् की भक्ति का विज्ञान; इत्थम्—इस प्रकार से; श्रुत्वा—सुन कर; अथ—तब; मिथिला-ईश्वरः—मिथिला राज्य के स्वामी, राजा निमि ने; जायन्तेयान्—जयन्ती के पुत्रों को; मुनीन्—मुनियों को; प्रीतः—प्रसन्न होकर; स-उपाध्यायः—पुरोहितों सहित; हि—निस्सन्देह; अपूजयत्—पूजा की।

नारद मुनि ने कहा : इस तरह भक्तियोग की बातें सुनकर मिथिला के राजा निमि अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और अपने यज्ञ-पुरोहितों सहित जयन्ती के मेधावी पुत्रों का सत्कार किया।

तात्पर्य : *जायन्तेयान* नव-योगेन्द्रों का द्योतक है, जो ऋषभदेव की पत्नी जयन्ती के गर्भ से उत्पन्न हुए थे।

ततोऽन्तर्दधिरे सिद्धाः सर्वलोकस्य पश्यतः ।
राजा धर्मानुपातिष्ठन्नवाप परमां गतिम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; अन्तर्दधिरे—अन्तर्धान हो गये; सिद्धाः—कवि इत्यादि मुनिगण; सर्व-लोकस्य—वहाँ पर उपस्थित सबों के; पश्यतः—देखते देखते; राजा—राजा; धर्मान्—आध्यात्मिक जीवन के इन नियमों को; उपातिष्ठन्—श्रद्धापूर्वक पालन करते हुए; अवाप—प्राप्त किया; परमाम्—परम; गतिम्—लक्ष्य।

तब वे सिद्ध मुनिगण वहाँ पर उपस्थित सबों की आँखों के सामने से अदृश्य हो गये। राजा निमि ने उनसे सीखे गये आध्यात्मिक जीवन के नियमों का श्रद्धापूर्वक अभ्यास किया और इस तरह जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त किया।

त्वमप्येतान्महाभाग धर्मान्भागवतान्श्रुतान् ।
आस्थितः श्रद्धया युक्तो निःसङ्गो यास्यसे परम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम (वसुदेव); अपि—भी; एतान्—इन; महा-भाग—हे परम भाग्यशाली; धर्मान्—नियमों को; भागवतान्—भक्ति के; श्रुतान्—सुने हुए; आस्थितः—को प्राप्त; श्रद्धया—श्रद्धापूर्वक; युक्तः—समन्वित; निःसङ्गः—भौतिक संगति से मुक्त; यास्यसे—जाओगे; परम्—परम को।

हे परम भाग्यशाली वसुदेव, आपने भक्ति के जिन नियमों को सुना है, उनका श्रद्धापूर्वक व्यवहार करें और इस तरह भौतिक संगति से छूट कर, आप परम पुरुष को प्राप्त होंगे।

तात्पर्य : नारद मुनि ने कृष्ण को पिता वसुदेव से राजा निमि के ज्ञान प्राप्त करने की पूरी कथा कही। अब नारद मुनि यह रहस्योद्घाटन करते हैं कि स्वयं वसुदेव भी नौ योगेन्द्रों द्वारा बहुत समय पहले बताये गये उन्हीं सिद्धान्तों का अभ्यास करने पर परम सिद्धि प्राप्त कर सकेंगे। वस्तुत: वसुदेव पहले से ही भगवान् के निजी संगी थे, किन्तु महाभागवत के रूप में अपनी सहज विनयशीलता के कारण उन्होंने कृष्ण के प्रति अपने प्रेम को परिपूर्ण बनाने का निश्चय किया था। इस तरह हम भगवान् के माता-पिता के उच्च पद को समझ सकते हैं।

सामान्य लोग अनुभव करते हैं कि भगवान् की पूजा सदैव परम पिता के रूप में की जाती है, जो जीवों को हर वस्तु प्रदान करता है। ऐसा मनोभाव भगवत्प्रेम की सिद्धि नहीं है, क्योंकि जब पुत्र छोटा होता है, तो वह अपने माता-पिता की अधिक सेवा नहीं कर पाता। जब बालक छोटा रहता है, तो माता-पिता ही उसकी निरन्तर सेवा करते हैं। अतएव जब कोई भक्त कृष्ण के माता या पिता की भूमिका निभाता है, तो उस भगवान् की, जिसे कोई भक्त भाव में आकर अपने पुत्र-रूप में स्वीकार करता है, सेवा करने का असीम अवसर प्राप्त होता है। यह तो वसुदेव का सौभाग्य था कि नारद मुनि ने स्वयं ही राजा निमि को बहुत काल पूर्व नवयोगेन्द्रों द्वारा दी गई अद्भुत शिक्षाएँ, उनके समक्ष प्रस्तुत कीं।

युवयो: खलु दम्पत्योर्यशसा पूरितं जगत् ।
पुत्रतामगमद्यद्वां भगवानीश्वरो हरि: ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

युवयो:—तुम दोनों के; खलु—निस्सन्देह; दम्-पत्यो:—पति-पत्नी के; यशसा—यश से; पूरितम्—पूर्ण हो गयी है; जगत्—पृथ्वी; पुत्रताम्—पुत्र का स्थान; अगमत्—धारण की हुई; यत्—क्योंकि; वाम्—तुम्हारा; भगवान्—भगवान्; ईश्वर:—परमेश्वर; हरि:—हरि।

निस्सन्देह, सारा संसार आप तथा आपकी पत्नी के यश से भरा-पुरा हो चुका है, क्योंकि भगवान् हरि ने आपके पुत्र का स्थान अपनाया है।

तात्पर्य : इस श्लोक में नारद मुनि *यशसा पूरितं जगत्* कह कर कृष्ण तथा बलराम के माता-पिता वसुदेव-देवकी के यश की ओर संकेत करते हैं। दूसरे शब्दों में, यद्यपि वसुदेव ने नारद से आध्यात्मिक

प्रगति के विषय में पूछा था, किन्तु नारद मुनि यहाँ पर बतलाते हैं, "आप पहले से पूर्ण यशस्वी हैं, क्योंकि आप भगवान् के प्रति असाधारण भक्ति रखते हैं।"

दर्शनालिङ्गनालापैः शयनासनभोजनैः ।
आत्मा वां पावितः कृष्णे पुत्रस्नेहं प्रकुर्वतोः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

दर्शन—देखने से; आलिङ्गन—आलिंगन करने से; आलापैः—तथा बातें करने से; शयन—सोने में; आसन—बैठने; भोजनैः—तथा भोजन करने से; आत्मा—हृदय; वाम्—तुम दोनों के; पावितः—शुद्ध हो चुके हैं; कृष्णे—भगवान् कृष्ण के लिए; पुत्र-स्नेहम्—पुत्र के प्रति स्नेह; प्रकुर्वतोः—प्रकट करने वाले।

हे वसुदेव, आप तथा आपकी उत्तम पत्नी देवकी ने कृष्ण को अपने पुत्र रूप में स्वीकार करके उनके प्रति महान् दिव्य प्रेम दर्शाया है। निस्सन्देह आप दोनों भगवान् का सदैव दर्शन तथा आलिंगन करते रहे हैं, उनसे बातें करते रहे हैं, उनके साथ विश्राम करते तथा उठते-बैठते तथा उनके साथ अपना भोजन करते रहे हैं। भगवान् के साथ ऐसे स्नेहपूर्ण तथा घनिष्ठ संग से आप दोनों ने अपने हृदयों को पूरी तरह शुद्ध बना लिया है। दूसरे शब्दों में, आप दोनों पहले से पूर्ण हो।

तात्पर्य : इस श्लोक में *आत्मा वां पावितः* शब्द अत्यन्त सार्थक हैं। सामान्य बद्धजीवों को भक्तियोग के विधानों का अभ्यास करके तथा यह सीखकर कि भगवान् की सेवा में अपने सारे कर्मों को किस तरह अर्पित किया जाता है, अपने शरीर को शुद्ध करना पड़ता है। किन्तु जो महापुरुष भगवान् की सेवा उनके माता-पिता, सखा, सखी, सलाहकार, पुत्र इत्यादि के रूप में करते हैं, उन पर यह नियामक क्रमिक विधि लागू नहीं की जा सकती। कृष्ण के प्रति अपने पुत्र रूप में वसुदेव तथा देवकी के गहन प्रेम के कारण उन्होंने पहले ही जीवन की सर्वोच्च सिद्धावस्था प्राप्त कर ली थी। यद्यपि पिछले श्लोक में नारद मुनि ने वसुदेव को सूचित किया था कि वे तथा उनकी पत्नी कृष्ण को पुत्र रूप में जन्म देने से यशस्वी बन चुके हैं, किन्तु वसुदेव यह तर्क कर सकते थे कि भगवान् के अन्य निजी संगी, यथा जय तथा विजय ब्राह्मण वर्ग का अपमान करने के कारण नीचे गिर गए थे। इसीलिए नारद ने इस श्लोक में *पावितः* शब्द का प्रयोग किया है, "आप पूर्णतया शुद्ध हैं अतएव कृष्ण के प्रति प्रगाढ़ प्रेम होने से अपनी भक्ति में रंचमात्र भी त्रुटि से पूर्णतया मुक्त हैं।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर की टीका से यह जाना जाता है कि कृष्ण के लीला-पिता श्री वसुदेव वास्तव में भगवान् के *नित्य-सिद्ध* संगी हैं। वसुदेव का शरीर कृष्ण की ही तरह आध्यात्मिक है और वे अपने सुन्दर पुत्र श्रीकृष्ण की सेवा करने के लिए भावमग्न रहते हैं। किन्तु नारद यह जान गये कि वसुदेव अतीव विनयशीलता के कारण अपने को सामान्य व्यक्ति मान रहे हैं और भगवद्भक्ति के विषय में दिव्य उपदेश सुनने के लिए उत्सुक हैं। वसुदेव की भावमयी विनयशीलता को स्वीकार करते हुए एवं उन्हें चिन्तामुक्त करने के लिए श्री नारद ने उन्हें *भक्तियोग* के विषय में, वैसे ही उपदेश दिये, जैसे कि किसी सामान्य व्यक्ति को दिये जाते हैं। किन्तु साथ ही नारद ने यह स्पष्ट कर दिया कि श्री वसुदेव तथा देवकी पहले से यशस्वी हैं, क्योंकि सौभाग्य से उन्हें कृष्ण तथा बलराम जैसे पुत्र प्राप्त हैं। इसीलिए वसुदेव से नारद कह रहे हैं, "हे वसुदेव! आप अपने पद के बारे में किसी तरह भी निरुत्साहित या सशंक मत होएँ। निस्सन्देह, आप शीघ्र ही भगवद्धाम जाने वाले हैं। वस्तुत: आप तथा आपकी पत्नी सर्वाधिक भाग्यशाली हैं।"

निष्कर्ष यह है कि हर एक को अपना सुसुप्त कृष्ण-प्रेम जागृत करके भाग्यशाली बनना चाहिए। ऐसे अनेक भयानक असुरों ने, जिन्होंने कृष्ण का विरोध किया, उनकी संगति से अंतत: सुखमय जीवन प्राप्त किया। अतएव, जो भक्त रात-दिन कृष्ण को ही प्रसन्न करने की सोचते रहते हैं, उन्हें परमानन्द की प्राप्ति में कोई सन्देह नहीं है।

वैरेण यं नृपतय: शिशुपालपौण्ड्र-
शाल्वादयो गतिविलासविलोकनाद्यै: ।
ध्यायन्त आकृतधिय: शयनासनादौ
तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुन: किम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

वैरेण—ईर्ष्या से; यम्—जिस (कृष्ण) को; नृ-पतय:—राजागण; शिशुपाल-पौण्ड्र-शाल्व-आदय:—शिशुपाल, पौण्ड्रक, शाल्व इत्यादि की तरह.; गति—उनकी गतिविधियों; विलास—क्रीड़ा; विलोकन—चितवन; आद्यै:—इत्यादि से; ध्यायन्त:—ध्यान करते हुए; आकृत—स्थिर; धिय:—जिनके मन; शयन—सोते; आसन-आदौ—बैठते इत्यादि में; तत्-साम्यम्—उन्हीं जैसा पद (वैकुण्ठ में स्थान); आपु:—प्राप्त किया; अनुरक्त-धियाम्—जिनके मन अनुकूल ढंग से अनुरक्त हैं; पुन: किम्—तुलना में और क्या कहा जाय।.

शिशुपाल, पौण्ड्रक तथा शाल्व जैसे विरोधी राजा, भगवान् कृष्ण के विषय में निरन्तर सोचते रहते थे। सोते, बैठते या अन्य कार्य करते हुए भी वे भगवान् के चलने-फिरने, उनकी

क्रीड़ाओं, भक्तों पर उनकी प्रेमपूर्ण चितवन तथा उनके द्वारा प्रदर्शित अन्य आकर्षक स्वरूपों के विषय में ईर्ष्याभाव से ध्यान करते रहते थे। इस तरह कृष्ण में सदैव लीन रह कर, उन्होंने भगवान् के धाम में मुक्ति प्राप्त की। तो फिर उन लोगों को दिये जाने वाले वरों के विषय में क्या कहा जाय, जो अनुकूल प्रेमभाव से निरन्तर भगवान् कृष्ण पर ही अपने मन को एकाग्र रखते हैं?

तात्पर्य : इस जगत से भगवान् कृष्ण के अन्तर्धान होते समय वसुदेव यह सोचकर शोकसन्तप्त थे कि उन्होंने भगवान् की उपस्थिति का समुचित लाभ उठाकर अपने को पूर्णतया कृष्णभावनाभावित क्यों नहीं किया। किन्तु नारद मुनि ने श्री वसुदेव को आश्वस्त किया कि वसुदेव तथा उनकी पत्नी देवकी के यश का पूरे ब्रह्माण्ड में कीर्तन हो रहा है, क्योंकि देवता तक भगवान् के माता-पिता के उच्च पद की पूजा करते हैं। वसुदेव न केवल अपने आध्यात्मिक पद के लिए चिन्तित थे, अपितु यदुवंश के लिए भी शोकसंतप्त थे, जो नारद जैसे महान् ब्राह्मण के शाप से भ्रातृ-युद्ध में बुरी तरह से इस जगत से लुप्त होने जा रहा था। यद्यपि यदुवंश के सदस्य कृष्ण के निजी संगी थे, किन्तु उनका विनाश एक तरह से अशुभ था, इसलिए वसुदेव उनकी अन्तिम गति के विषय में चिन्तित थे। इसीलिए यहाँ पर नारद उन्हें आश्वस्त कर रहे हैं कि कृष्ण का विरोध करने वाले शिशुपाल, पौण्ड्रक तथा शाल्व जैसे असुरों को भगवद्धाम की प्राप्ति हुई, क्योंकि वे लोग कृष्ण के विषय में निरन्तर सोचते रहते थे। अतएव यदुवंश के सम्मानित सदस्यों के विषय में क्या कहा जा सकता है, जो कृष्ण से अत्यधिक प्रेम करते थे (*अनुरक्तधियांपुन: किम्*) ? इसी प्रकार *गरुड़ पुराण* में कहा गया है—

अज्ञानिन: सुरवरं समधिक्षिपन्तो

यं पापिनोऽपि शिशुपालसुयोधनाद्या: ।

मुक्तिं गता: स्मरणमात्र विधूतपापा:

क: संशय: परमभक्तिमतां जनानाम् ॥

"शिशुपाल तथा दुर्योधन जैसे मूर्ख पापी, जो कृष्ण को गाली देते थे, भगवान् कृष्ण का स्मरण करने मात्र से समस्त पापों से छूट गये। उनके मन किसी न किसी तरह कृष्ण में लीन रहते थे, फलत: उन्होंने मुक्ति प्राप्त की। तो फिर उनकी गति के विषय में क्या संशय है, जो भगवद्भक्ति से सदैव अभिभूत रहते हैं?"

वसुदेव को भी उलझन मालूम हो रही थी, क्योंकि एक ओर वे इस तथ्य से अवगत थे कि कृष्ण भगवान् हैं और दूसरी ओर वे भगवान् को अपना प्रिय पुत्र मान रहे थे। पिता-पुत्र के सम्बन्ध में, कभी कभी पिता को चाहिए कि पुत्र को दण्ड दे और अनेक प्रकार से उस पर प्रतिबन्ध लगा दे। इस तरह वसुदेव ऐसा अनुभव कर रहे थे कि भगवान् कृष्ण को अपने पुत्र के रूप में प्रशिक्षित करने के प्रयास द्वारा, उन्होंने भगवान् का अपमान किया है। किन्तु भगवान् कृष्ण वास्तव में प्रसन्न होते हैं, जब शुद्ध भक्त उनके वात्सल्य-प्रेम में मग्न हो जाता है और उनकी देखरेख उसी तरह करता है, जिस तरह छोटे शिशु की उसके माता-पिता करते हैं। कृष्ण ऐसे भक्तों की प्रगाढ़ भक्तिमयी भावनाओं के बदले में उनके समक्ष एक बालक के रूप में प्रकट होते हैं, मानो उनके पुत्र हों।

जैसाकि इस श्लोक में उल्लेख है, असुरगण कृष्ण को ईर्ष्याभाव से दंडित करते थे। तो भी ऐसे असुरों को कृष्ण में विचारमग्न रहने के कारण मोक्ष प्राप्त हुआ। अतएव वसुदेव की गति के विषय में क्या कहा जा सकता है, जिन्होंने वात्सल्य-प्रेमवश भगवान् को दण्डित किया? निष्कर्ष यह है कि भगवद्भक्तों को चाहिए कि वसुदेव-देवकी को सामान्य बद्धजीव न समझें। भगवान् कृष्ण के साथ उनका सम्बन्ध पूर्णतया वात्सल्य-रस के दिव्य स्तर पर है। इसका भौतिक जगत के वात्सल्य-प्रेम से कुछ लेना-देना नहीं है, क्योंकि माता-पिता अपनी सन्तान को भौतिक भोग की वस्तु मानते हैं, अतएव यह इन्द्रिय-तृप्ति रस पर आधारित होती है।

मापत्यबुद्धिमकृथाः कृष्णे सर्वात्मनीश्वरे ।
मायामनुष्यभावेन गूढैश्वर्ये परेऽव्यये ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

मा—मत; अपत्य-बुद्धिम्—आपका पुत्र होने का विचार; अकृथाः—लादो; कृष्णे—कृष्ण पर; सर्व-आत्मनि—सबों के परमात्मा; ईश्वरे—ईश्वर; माया—अपनी मायाशक्ति द्वारा; मनुष्य-भावेन—सामान्य पुरुष की भाँति प्रकट होकर; गूढ-ऐश्वर्ये—अपने ऐश्वर्य को छिपाते हुए; परे—परम; अव्यये—अच्युत।

कृष्ण को सामान्य बालक मत समझिये, क्योंकि वे भगवान्, अव्यय तथा सबों के आत्मा हैं। भगवान् ने अपने अचिन्त्य ऐश्वर्य को छिपा रखा है, इसीलिए वे बाहर से सामान्य मनुष्य जैसे प्रतीत होते हैं।

तात्पर्य : परम सत्य के समस्त स्वांश अवतारों के मूल स्रोत श्रीकृष्ण हैं। *कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।* उनका असीम ऐश्वर्य अक्षय है और इस तरह वे समग्र सृष्टि को आसानी से अपने वश में कर लेते हैं।

भगवान् कृष्ण हर जीव के हितैषी हैं, अतएव वसुदव को अपने भावी गन्तव्य के विषय में न तो चिन्ता करने की कोई बात थी, न ही कृष्ण के अन्य संगियों यथा यदुकुल के सदस्यों की। इसी अध्याय के ४६वें श्लोक में नारद मुनि ने वसुदेव को बतलाया था—*पुत्रतामगमद् यद् वां भगवान् ईश्वरो हरिः*—"अब आप तथा आपकी पत्नी ब्रह्माण्ड-भर में प्रशंसित हो चुके हैं, क्योंकि साक्षात् भगवान् कृष्ण आपके पुत्र बने हैं।" इस तरह नारद ने वसुदेव को उत्साहित किया कि वे कृष्ण से अपने सर्वप्रिय पुत्र के रूप में प्रेम करते रहें, क्योंकि ऐसे भक्तिपूर्ण भावों को कभी भी त्यागना नहीं चाहिए। किन्तु इसी के साथ वसुदेव के भविष्य विषयक संशय को दूर करते हुए नारद आश्वस्त करते हैं "कृष्ण के प्रेम के कारण आप उन्हें सामान्य व्यक्ति मान सकते हैं। आप मनुष्य रूप में प्रकट हुए हैं और कृष्ण आपसे मात्र आदान-प्रदान कर रहे हैं। अपने को आपके पुत्र रूप में प्यार करते रहने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए वे अपने को आपके वश में किये हुए हैं। इस तरह उनकी अचिन्त्य शक्ति तथा ऐश्वर्य आपसे छिपे हुए हैं। किन्तु यह मत मान लीजिएगा कि इस जगत की घटनाओं के कारण कोई विकट स्थिति आ सकती है। यद्यपि कृष्ण आपके वश में प्रतीत होते हैं, किन्तु वे हैं परम नियन्ता। इसलिए उन्हें मनुष्य मत मानिये। वे तो सदैव भगवान् हैं।"

इस श्लोक का *माया* शब्द सूचित करता है कि कृष्ण की मनुष्य जैसी क्रियाएँ सामान्य व्यक्ति को भ्रम में डालने वाली हैं, क्योंकि कृष्ण भगवान् हैं। *माया* का अन्य अर्थ "दिव्य शक्ति" भी है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*सम्भवाम्यात्ममायया*—भगवान् अपने दिव्य रूप में दिव्य शक्तियों से पूरित होकर अवतरित होते हैं। इस तरह *मायामनुष्यभावेन* शब्दों से कृष्ण का आदि स्वरूप सूचित होता है, जो इस जगत में मनुष्य जैसा लगता है। संस्कृत कोश के अनुसार माया "कृपा" का भी सूचक है, अतएव भगवान् के अवतार को बद्धजीवों पर उनकी अहैतुकी कृपा भी माना जाता है। भगवान् का अवतरण उन मुक्तात्माओं पर भी उनकी अहैतुकी कृपा है, जो भगवान् की लीलाओं तथा कीर्तन एवं श्रवण जैसे कार्यों में परमानन्द का अनुभव करते हैं (*श्रवणं कीर्तनं विष्णोः*)।

अपने प्रति वसुदेव के प्रेम का प्रतिदान करने के उद्देश्य से कृष्ण अपने असीम ऐश्वर्य को गुप्त रखते हैं। इस तरह भक्त को भगवान् के साथ अपना विशेष प्रेम-सम्बन्ध बनाये रखने में प्रोत्साहन मिलता है। किन्तु जब वसुदेव ब्राह्मण-शाप से उत्पन्न भीषण स्थिति से चिन्तामग्न थे, तो नारद ने स्मरण

कराया कि ऐसी चिन्ता व्यर्थ है, क्योंकि ये सारी घटनाएँ भगवान् के अधीन हैं। अतएव वे वैष्णव *परमहंस,* जो भगवान् के माता-पिता के पद पर हैं, सदैव भगवान् की शरण में रहते हैं और भगवद्भक्ति से कभी विचलित नहीं होते। वे देहात्म बुद्धि वाले सामान्य माता-पिता से विपरीत सभी परिस्थितियों में दिव्य स्थिति में लीन रहे आते हैं।

भूभारासुरराजन्यहन्तवे गुप्तये सताम् ।
अवतीर्णस्य निर्वृत्यै यशो लोके वितन्यते ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

भू-भार—पृथ्वी के भारस्वरूप; असुर—असुर; राजन्य—राज-परिवार के सदस्य; हन्तवे—मारने के उद्देश्य से; गुप्तये—रक्षा के लिए; सताम्—सन्त-भक्तों की; अवितीर्णस्य—अवतार लेने वाले के; निर्वृत्यै—तथा मुक्ति प्रदान करने के लिए भी; यशः—यश; लोके—संसार-भर में; वितन्यते—फैल गया है।

भगवान् पृथ्वी के भारस्वरूप आसुरी राजाओं का वध करने तथा सन्त-भक्तों की रक्षा करने के लिए अवतरित हुए हैं। किन्तु असुर तथा भक्त दोनों ही को भगवत्कृपा से मुक्ति प्रदान की जाती है। इस तरह उनका दिव्य यश ब्रह्माण्ड-भर में फैल गया है।

तात्पर्य : यह सन्देह उठ सकता है कि भगवान् इस जगत में किस तरह अवतरित होते हैं। चूँकि वे करोड़ों ब्रह्माण्डों के सर्वशक्तिमान स्रष्टा हैं, तो फिर भक्तगण पूतना जैसी चुड़ैल का स्तन-पान करके उसके वध किये जाने जैसे कार्यकलापों को भगवान् का अद्भुत कार्य क्यों मानते हैं? यद्यपि ऐसे कार्य सामान्य मनुष्यों की परिधि के परे हैं, तो सर्वशक्तिमान भगवान् द्वारा सम्पन्न होने पर इन्हें अद्भुत क्यों माना जाता है? इसका उत्तर इस श्लोक में *निर्वृत्यै* शब्द द्वारा दिया गया है। भगवान् ने असुरों को इसलिए नहीं मारा, क्योंकि वे उनसे द्वेष रखते थे, अपितु उन्हें मोक्ष प्रदान करने के लिए ऐसा किया। इस तरह अपनी अचिन्त्य लीलाओं द्वारा भक्त तथा असुर दोनों ही को मोक्ष प्रदान करने की भगवान् की अहैतुकी कृपा भगवान् को मनुष्य या देवता से स्पष्टतः विभेदित करती है। कहा गया है—*मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः*—एकमात्र विष्णु ही जन्म-मृत्यु से परे मोक्ष के दाता हैं। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने संकेत किया है कि सामान्य रूप से असुरों को ब्रह्मज्योति में निर्विशेष मुक्ति प्रदान की जाती है, जबकि भक्तों को वैकुण्ठ में भगवत् प्रेम का श्रेष्ठ वर दिया जाता है। इस तरह भगवान् सभी श्रेणी के जीवों पर अपनी अहैतुकी कृपा प्रदर्शित करते हैं, जिससे ब्रह्माण्ड-भर में उनका यश फैलता है। चूँकि कृष्ण दिव्य हैं अतएव उनका यश उनके साकार अवतार से भिन्न नहीं है, अतः ज्यों

ज्यों भगवान् के यश का विस्तार होता है, त्यों त्यों सारा ब्रह्माण्ड क्रमशः मुक्त होता जाता है। भगवान् के ये कुछ अद्वितीय लक्षण हैं।

श्रीशुक उवाच
एतच्छ्रुत्वा महाभागो वसुदेवोऽतिविस्मितः ।
देवकी च महाभागा जहतुर्मोहमात्मनः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

श्री-शुकः उवाच—श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा; एतत्—यह; श्रुत्वा—सुनकर; महा-भागः—परम भाग्यशाली; वसुदेवः—राजा वसुदेव; अति-विस्मितः—अत्यन्त चकित; देवकी—माता देवकी; च—तथा; महा-भागा—परम भाग्यशालिनी; जहतुः—दोनों ने त्याग दिया; मोहम्—भ्रम; आत्मनः—अपना।

श्री शुकदेव गोस्वामी ने कहा : यह कथा सुनकर परम भाग्यशाली वसुदेव पूर्णतया आश्चर्यचकित हो गए। इस प्रकार उन्होंने तथा उनकी परम भाग्यशालिनी पत्नी देवकी ने उस भ्रम तथा चिन्ता को त्याग दिया, जो उनके हृदयों में घर कर चुके थे।

इतिहासमिमं पुण्यं धारयेद्यः समाहितः ।
स विधूयेह शमलं ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

इतिहासम्—ऐतिहासिक विवरण; इमम्—इसको; पुण्यम्—पवित्र; धारयेत्—ध्यान करता है; यः—जो; समाहितः—स्थिर चित्त से; सः—वह; विधूय—धोते हुए; इह—इसी जीवन में; शमलम्—कल्मष को; ब्रह्म-भूयाय—परम सिद्धि; कल्पते—प्राप्त करता है।

जो स्थिर चित्त होकर इस पवित्र ऐतिहासिक कथा का ध्यान करता है, वह इसी जीवन में अपने सारे कल्मष धोकर सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करेगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कंध के अन्तर्गत "नारद द्वारा वसुदेव को दी जाने वाली शिक्षाएँ समापन" नामक पाँचवें अध्याय के श्रील भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के विनीत सेवकों द्वारा रचित तात्पर्य पूर्ण हुए।